

# THE FREE INDOLOGICAL COLLECTION

[WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC](http://WWW.SANSKRITDOCUMENTS.ORG/TFIC)

---

## FAIR USE DECLARATION

This book is sourced from another online repository and provided to you at this site under the TFIC collection. It is provided under commonly held Fair Use guidelines for individual educational or research use. We believe that the book is in the public domain and public dissemination was the intent of the original repository. We applaud and support their work wholeheartedly and only provide this version of this book at this site to make it available to even more readers. We believe that cataloging plays a big part in finding valuable books and try to facilitate that, through our TFIC group efforts. In some cases, the original sources are no longer online or are very hard to access, or marked up in or provided in Indian languages, rather than the more widely used English language. TFIC tries to address these needs too. Our intent is to aid all these repositories and digitization projects and is in no way to undercut them. For more information about our mission and our fair use guidelines, please visit our website.

Note that we provide this book and others because, to the best of our knowledge, they are in the public domain, in our jurisdiction. However, before downloading and using it, you must verify that it is legal for you, in your jurisdiction, to access and use this copy of the book. Please do not download this book in error. We may not be held responsible for any copyright or other legal violations. Placing this notice in the front of every book, serves to both alert you, and to relieve us of any responsibility.

**If you are the intellectual property owner of this or any other book in our collection, please email us, if you have any objections to how we present or provide this book here, or to our providing this book at all. We shall work with you immediately.**

**-The TFIC Team.**



श्री जवाहर किरणावली—किरण-१०

# सम्यक्त्वपराक्रम

तृतीय भाग

प्रवचनकार

ज्येष्ठ आचार्य श्री जवाहरलाल जी म.सा.

संपादक

श्री पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ

प्रकाशक

श्री जवाहर साहित्य समिति, भीनासर

( बीकानेर, राजस्थान )

प्रकाशक :

मंत्री, श्री जवाहर साहित्य समिति  
भोनासर ( बीकानेर, राजस्थान )

द्वितीय संस्करण

जुलाई, १९७२.

मूल्य : दो रुपया पचास पैसे.

मुद्रक :

जैन आर्ट प्रेस

( श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित  
रागड़ी मोहल्ला, बीकानेर.

## \* निवेदन \*

आठवी-नौवी किरण मे श्री उत्तराध्ययन सूत्र के सम्य-  
क्त्वपराक्रम अध्ययन के २० बोलो तक के व्याख्यान प्रकाशित  
हो चुके हैं । प्रस्तुत किरण मे चौंतीस बोलो तक का  
विवेचन आया है ।

स्व० आचार्य श्री जवाहरलाल जी म. सा असाधारण  
प्रतिभाशाली और गम्भीर विचारक सन्त महापुरुष थे ।  
उन्होंने अपने साधक जीवन मे जो अनुभूति की थी, वह  
उनकी वाणी द्वारा व्यक्त हुई है । पूज्य श्री ने गहन तत्त्व-  
विचारो को सरल भाषा मे प्रकट किया है जो जनता के  
लिये बड़े काम के हैं । आशा है पाठक एकाग्रभाव से इन्हे  
पढ़ेंगे और मनन करेंगे ।

सम्यक्त्वपराक्रम के शेष भाग शीघ्र ही पाठको की  
सेवा मे उपस्थित कर रहे हैं ।

श्री हितेच्छु श्रावक-मंडल, रतलाम और जैन ज्ञानोदय  
सोसाइटी, राजकोट का हम आभार मानते हैं, जिनके अनुग्रह  
से यह साहित्य प्रकाशित कर सके हैं ।

धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्री राजकु वर बाई मालू  
बीकानेर द्वारा श्री जवाहर साहित्य समिति को साहित्य  
प्रकाशन के लिये प्रदत्त घनराशि से यह द्वितीय संस्करण का  
प्रकाशन हुआ है । सत्साहित्य के प्रचार-प्रसार के लिये  
बहिनश्री की अनन्यनिष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी ।

निवेदक

भीनासर

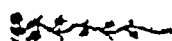
चंपालाल बांठिया

(बीकानेर-राज)

मंत्री-श्री जवाहर साहित्य समिति

## —: विषयसूची :—

इक्कीसवां बोल— परिवर्तना	१
बाईसवा बोल— अनुप्रेक्षा	८
तेईसवा बोल— धर्मकथा	२६
चौबीसवा बोल— श्रुत की आराधना	४२
पच्चीसवां बोल— मानसिक एकाग्रता	४७
छब्बीसवां बोल— समय	५५
सत्ताईसवा बोल— तप	६६
अट्ठाईसवा बोल— व्यवधान	८२
उनतीसवा बोल— सुखसाता	१११
तीसवा बोल— अप्रतिबद्धता	१३८
एकतीसवा बोल— विविक्त शयनासन	१५७
बत्तीसवा बोल— विनिवर्तना	१६६
तेतीसवां बोल— सभोगप्रत्याख्यान	१८४
चौतीसवां बोल— उपधिप्रत्याख्यान	२०६



# इक्कीसवाँ बोल

## परिवर्तना



प्रतिप्रच्छना का विचार करने के पश्चात् यहाँ परिवर्तना-परावर्तना ( शास्त्र की आवृत्ति ) करने के विषय में विचार करना है । इस विषय में भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है.—

### मूलपाठ

प्रश्न—परियट्टणयाए णं भंते ! जीवे किं जणेइ ?

उत्तर—परियट्टणयाए णं वजणसहं जणेइ, वंजणलद्धि च उप्पाएइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सूत्र सिद्धान्त की आवृत्ति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—बार-बार सूत्र की आवृत्ति करने से विस्मृत व्यंजन (अक्षर) याद हो जाते हैं और उससे जीव को अक्षर-लब्धि और पदानुसारी लब्धि प्राप्त होती है ।

## व्याख्यान

सूत्रों की वाचना लेने के पश्चात् प्रतिपृच्छना द्वारा सूत्र और अर्थ को असदिग्ध बना लिया जाता है। मूल सूत्र और अर्थ की बार-बार आवृत्ति न की जाये अर्थात् उन्हें पुन-पुनः फेरा न जाये तो सूत्र और अर्थ का विस्मरण हो जाता है। अतएव सूत्र और अर्थ की आवृत्ति करते रहना चाहिए। यहा भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि सूत्र-अर्थ की आवृत्ति करने से जीवान्मा को क्या लाभ होता है?

इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है-- सूत्र और अर्थ की आवृत्ति करने से व्यजनो का लाभ होता है अर्थात् भूले हुए व्यजन याद आ जाते हैं और साथ ही साथ पदानुसारी लब्धि भी प्राप्त होती है।

जैसे दीपक पदार्थ को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार व्यजन भी भाव-पदार्थ को प्रकाशित करता है। व्यजन व्यजक अर्थात् प्रकाशक है। जैसे अघकार में रखी हुई वस्तु प्रकाश के अभाव मे दृष्टिगोचर नहीं होती उसी प्रकार आत्मा व्यजनो के ज्ञान के अभाव मे वस्तु का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। व्यजनो का ज्ञान होने से आत्मा अनेक बातें जान सकता है। यह कहावत तो प्रचलित ही है कि पढ़े-गुने के चार आखें होती है, अर्थात् उसके दो चर्मचक्षु तो होते ही हैं, पर पढ़ने लिखने से हृदय के नेत्र भी खुल जाते है। हिन्दू शास्त्रो मे महादेव को त्रिनेत्र अर्थात् तीन आंखो वाला बतलाया है। दो आखें तो सभी के होती हैं, मगर तीसरी आख जिमे प्राप्त होती है, वह महादेव बन जाता है। महादेव की तीन आंखो की कल्पना क्यों की गई



है, यह कहना कुछ कठिन है। मगर यह सरलतापूर्वक कहा जा सकता है कि हृदय की आख बन्द रखने वाला मूर्ख कहलाता है और जो हृदय-चक्षु को खुला रखता है वह महादेव हो जाता है। हृदय की आख खुली होने पर भी अगर खराब काम किये जाएँ तो कैसा कहा जा सकता है कि इसकी हृदय की आख खुली है? वह तो मानो देखते हुए भी अंधा है। हाँ जो हृदय की आख खुली रखकर सत्कार्य में प्रवृत्ति करता है वह शिव अर्थात् कल्याणकारी बन जाता है।

भगवान् का कथन है कि सूत्र-सिद्धान्त की परावर्तना या आवृत्ति करने से विस्मृत व्यजनों का स्मरण हो जाता है। यही नहीं वरन् व्यजन की लब्धि भी उत्पन्न होती है। अक्षरों के मिलने से शब्द बनता है और शब्दों के मेल से वाक्य बनता है। सूत्र-सिद्धान्त की आवृत्ति करते रहने से ऐसी पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होती है कि जिससे एक अक्षर बोलने से पूरा शब्द और एक शब्द बोलने से पूरा वाक्य तथा एक वाक्य बोलने से दूसरा वाक्य बन सकता है या जाना जा सकता है। अर्थात् एक पद मुनने से दूसरा पद बनाने की शक्ति आ जाती है। इस प्रकार की शक्ति पदानुसारिणी लब्धि से ही प्राप्त हो सकती है और यह लब्धि सूत्र-सिद्धान्त की आवृत्ति करते रहने से उत्पन्न होती है।

आवृत्ति न करने से किस प्रकार की हानि होती है? इस विषय में वचन में सुनी हुई एक कहावत याद आ जाती है। इस कहावत में गुरु, शिष्य से पूछता है—

पान सड़े घोड़ा अड़े, विद्या वीसर जाय ।  
तवा पर रोटी जले, कह चेला किण काय ॥

इन प्रश्नों के उत्तर में चेला ने कहा - 'न फेरने से।' अर्थात्—पान फेरा न जाये तो वह सड़ जाता है, घोड़ा न फिराया जाये तो वह अडियल हो जाता है, विद्या न फेरी जाये अर्थात् विद्या की आवृत्ति न की जाये तो वह विस्मृत हो जाती है और यदि तवा पर डाली हुई रोटी न फिराई जाये तो वह जल जाती है । इस प्रकार सब वस्तुओं को फेरने की आवश्यकता रहती है । वास्तव में यह अखिल ससार ही परिवर्तनशील है । ससार का परिवर्तन न हो तो संसार का अस्तित्व भी न रहे । बालक जन्म लेने के बाद यदि बालक ही बना रहे, उसकी उम्र में तनिक भी परिवर्तन न हो तो जीवन की मर्यादा कैसे कायम रह सकती है ? अतएव प्रत्येक वस्तु में परिवर्तन होते ही रहना चाहिए । सूत्र की आवृत्ति करते रहने से व्यंजनो की प्राप्ति होती है, विस्मृत व्यंजन याद आ जाते हैं और पदानुसारिणी लब्धि उत्पन्न होने से, अक्षर से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्य से दूसरा वाक्य बनाने की शक्ति उत्पन्न होती है । एक वाक्य सुनकर दूसरा वाक्य और पद सुनकर दूसरा पद किम प्रकार बनाया जाता है, यह समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा—

एक बार राजा भोज में एक आश्चर्यजनक घटना देखी । उसने देखा—एक ब्राह्मण के घर उसके पिता आदि का श्राद्ध होने के कारण, उसने श्राद्ध के योग्य भोजनसामग्री तैयार कराई । उस ब्राह्मण की ऐसी मान्यता थी कि पूर्वज

लोग कौवा बनकर आते हैं । इस विचार से वह कौवो को भोजन खिला रहा था । कौवे भोजन करने लगे । उस ब्राह्मण की स्त्री भोजन की सामग्री बचाना चाहती थी, अतः कौवो को देखकर वह भय करने लगी । वह ब्राह्मण-पत्नी भोजन-सामग्री बचाने के लिए ही ऐसा भय प्रदर्शित करने लगी, मानो कौवो से डरती हो ।

राजा ने उस ब्राह्मणी को इस प्रकार दिनदहाड़े कौवो से भयभीत होते देखकर विचार किया—जो स्त्री दिन के समय कौवो से डरती है, देखना चाहिए उसका चरित्र कैसा है । इस प्रकार विचार कर राजा छिपे वेश में उस स्त्री के चरित्र का पता लगाने लगा ।

ब्राह्मण जब कौवो को भोजन खिला रहा था तब उसकी पत्नी कहने लगी—‘मुझे कौवो का डर लगता है’ इनना कहकर वह कापने लगी । स्त्री को कापते देखकर उसके पति ने कहा—‘अगर तुझे इतना डर लगता है तो मैं कौवो को खिलाना ही बन्द कर देता हूँ ।’ इस तरह उस ब्राह्मणी की सुराद पूरी हुई । अर्थात् भोजन-सामग्री बचा लेने के लिए उसने जो युक्ति रची थी, वह सफल हुई ।

रात्रि का समय हुआ । ब्राह्मणी ने बची हुई भोजन-सामग्री एक डिब्बे में बन्द की और डिब्बा सिर पर रखकर रवाना हुई । उसका कोई जार पति नदी के दूसरे किनारे रहता था । ब्राह्मणी अपने जार के पास जाना चाहती थी मगर बीच में नदी आती थी और नदी में ग्राह-मगर आदि जन्तुओं का भय था । उस स्त्री ने साथ लाई हुई भोजन-सामग्री एक ओर नदी में फेंक दी । ग्राह, मगर आदि जंतु

## ६-सम्यक्त्वपराक्रम (३)

भोजन-सामग्री खाने में लग गये और वह नदी के परले पार चली गई । अपने जार के पास पहुच कर और मनोरथ पूर्ण करके वापस लौटी । छिपे वेष में राजा भोज ने यह सब घटना देखी । राजा सोचने लगा—मैं तो यह घटना जान गया हू मगर इस प्रकार की घटनाएं घटती हैं, यह बत लोग जानते हैं या नहीं, यह भी मालूम करना चाहिए । इस प्रकार विचार कर उसने अपने पड़ितों की सभा में कहा—

### दिवा काकस्य भयात्

अर्थात्—‘दिन के समय काक से डरती है ।’ इतना कहकर उसने पड़ितों से कहा—अब आप लोग कहिए कि इससे आगे क्या होना चाहिए ? दूसरे पड़ित तो चुप रहे, मगर कालीदास ने कहा—

### रात्रि तरति निर्मलजलं

अर्थात्—‘वही रात्रि के समय जल में तैरती है ।’ यह सुनकर राजा ने कालीदास से कहा—

### तत्र वसन्ति ग्राहादयो

अर्थात्—‘जल में तो ग्राह आदि जंतु रहते हैं । इसके उत्तर में कालीदास ने कहा—

### मर्म जानन्ति सासनीन्द्रिका ?

अर्थात्—जो दिन में कौबो से डरती है और रात्रि में नदी पार कर जाती है, वह स्त्री ग्राह—मगर आदि जंतुओं से बचने का उपाय भी जानती है ।

जैसे कालीदास ने एक पद सुनकर दूसरा पद बना दिया, उसी प्रकार एक पद सुनकर दूसरा बना लेने की शक्ति पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होने से ही प्राप्त होती है। वह आलस्य करने से नहीं प्राप्त होती।

शास्त्र कहता है--हे मुनियो ! अगर तुम सूत्र की आवृत्ति करते रहोगे तो तुम्हें पदानुसारिणी लब्धि प्राप्त होगी। जैसे हथियार घिसते रहने से तीखा रहता है, उसी प्रकार सूत्रविद्या की आवृत्ति करते रहने से आपकी विद्या भी तीक्ष्ण रहेगी।



# बाईसवां बोल

## अनुप्रेक्षा

---

सूत्र की परावर्त्तना के विषय में इक्कीसवां बोल कहा जा चुका है । अब अनुप्रेक्षा विषयक प्रश्न उपस्थित होता है । सूत्र की आवृत्ति करने वाले को अनुप्रेक्षा करनी ही चाहिए । सूत्र और अर्थ के विषय में विचार करके, उसमें से तत्त्व की खोज करना अनुप्रेक्षा है । केवल सूत्र पढ़ लेने मात्र से कुछ नहीं होता । कितने ही विद्वान् ऐसे देखे या सुने जाते हैं, जिनका भ'षण सुनकर लोग चकित हो जाते हैं । मगर उनका आचरण देखा जाये तो आश्चर्य के साथ यही कहना पड़ता है कि जिनका भाषण इतना चमत्कारपूर्ण है उनका यह आचरण है । आचरण और भ'षण में इस प्रकार अन्तर होने का कारण यही है कि उन्हें असली पद्धति से शिक्षा नहीं दी गई है अथवा उन्होंने शिक्षा की वास्तविक पद्धति नहीं अपनाई है । इसीलिए जैनशास्त्र का कथन है कि ली हुई मूत्रवाचना के विषय में पूछताछ-परिपृच्छना करो, बार-बार आवृत्ति करो और उस पर एकाग्रतापूर्वक चिन्तन करो अर्थात् सूत्रार्थ का मनन करके विचार करो । सूत्रार्थ का मननपूर्वक विचार करने से अत्यन्त आनन्द का अनुभव होता है । इस प्रकार अनुप्रेक्षा में बड़ा ही आनन्द है । उस आनन्द का वर्णन नहीं किया जा सकता । उस आनन्द को

वही जान सकता है जो उसका अनुभव करता है । जिस अनुप्रेक्षा मे अनिर्वचनीय आनन्द समाया है, उसके विषय में भगवान् से यह प्रश्न किया गया है--

### मूलपाठ

प्रश्न—अणुप्पेहाए ण भते ! जीव किं जणयइ ?

उत्तर—अणुप्पेहाए णं आउयवज्जाओ सत्त कम्मपय-  
डीओ घणियबंधणवद्धाओ सिद्धिलबधणवद्धाओप करेइ, दीह-  
कालिड्डयाओ हस्सकालिड्डयाओ पकरेइ, तिक्वाणुभावाओ  
मदाणुभावाओ पकरेइ, बहुप्पएसगाओ अप्पएसगाओ पक-  
रेइ, आउयं च ण कम्मं सिय वंधइ, सिय णो बधइ, असाया-  
वेयणिज्ज च णं कम्मं नो भुज्जो भुज्जो उवचिणइ अणाइयं  
च णं अणवयगं दहमद्धं चाउरतसंसारकतारं खिप्पामेव  
वीइवयइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! अनुप्रेक्षा ( सूत्रार्थ के चिन्तन ) से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—जीव अनुप्रेक्षा रूप स्वाध्याय से आयुर्कर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मों की गंढी बन्धी हुई प्रकृतियों को शिथिल करता है । अगर वह प्रकृतियाँ लम्बे काल की स्थिति वाली हों तो अल्पकालीन स्थिति वाली बनाता है । तीव्र रस वाली हो तो मंद रस वाली बनाता है । बहुत प्रदेशों वाली हो तो अल्प प्रदेश वाली बनाता है । आयु कर्म कदाचित् बन्धता है, कदाचित् नहीं बन्धता । अर्थात् पहले आयुर्कर्म न बन्धा हो तो बन्धता है, अन्यथा नहीं ।

असाता वेदनीय कर्म नहीं बन्धता और वह जीव अनादि, अनन्त और चतुर्गति रूप अपार ससार को शीघ्र ही पार कर लेता है ।

## व्याख्यान

अनुप्रेक्षा (सूत्रार्थ का चिन्तन) करने से लाभ होता है, यह बात प्रसिद्ध है । मगर शिष्य को गुरु के मुख से बात सुनने में आनन्द आता है । इसीलिए भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने जो कुछ कहा है, उस पर विस्तार के साथ विचार करने का अभी समय नहीं है । अतएव संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि अनुप्रेक्षा करने से जीव को प्रसन्नता होती है और उससे उसे बड़ा लाभ होता है । अनुप्रेक्षा करने से जीव को बहिरग आनन्द भी होता है । किन्तु शास्त्र बहिरग आनन्द को लाभ नहीं समझता, अन्तरग आनन्द को ही लाभ रूप मानता है । अन्तरग आनन्द ही सच्चा आनन्द है । लोग बाह्य आनन्द को आनन्द मानकर भ्रम में पड़ हैं पर शास्त्र ऐसी भूल किस प्रकार कर सकता है ? वस्तुतः आत्मा को तो अन्तरग आनन्द और अन्तरग लाभ की ही आवश्यकता है ।

अनुप्रेक्षा करने से बुद्धि में और विवेक में जागृति आती है । आप बुद्धि का बड़ी समझते हैं या ससार के पदार्थों को बड़ा समझते हैं ? वचपन में हमसे पूछा जाता था कि अक्ल बड़ी या भंस ? मैं इस प्रश्न का उत्तर दिया करता था कि भंस बड़ी नहीं, अक्ल बड़ी है । जब दोबारा पूछा जाता कि भंस क्यों बड़ी नहीं और अक्ल क्यों बड़ी



है ? तो मैं उत्तर देता—एक ~~अकलमद~~ बहुत-सी भैसों को चरा सकता है और कमअकल को एक ही भैस मार सकता है ।

इस प्रकार अन्य पदार्थों की अपेक्षा बुद्धि महान् है । रेल, तार, वायुयान आदि का बुद्धि द्वारा ही आविष्कार हुआ है । अन्तरग और बहिरग वस्तु में भी ऐसा ही अन्तर समझना चाहिए । अन्तरग वस्तु बुद्धि के समान है और बहिरग वस्तु भैस के समान है । ऐसा होते हुए भी आप किसे चाहते हैं ? आप बाह्य वस्तुओं को चाहते हैं या अन्तरग वस्तुओं को ? कहीं बाह्य वस्तुओं के लिए आप बुद्धि के दुश्मन तो नहीं बन जाते ? अगर आप बुद्धि के दुश्मन न बनते हो तो आपको उपदेश देने की आवश्यकता ही न रहे । जहाँ रोग ही न हो वहाँ डाक्टर की क्या आवश्यकता है ? और जहाँ रगड़े-भगड़े न हो वहाँ वकील की क्या जरूरत है ? इसी प्रकार अगर आप बुद्धि के शत्रु न बनते हो तो हमें उपदेश देने की आवश्यकता ही क्यों पड़े ? जनता को उपदेश इसी कारण देना पड़ता है कि वे बुद्धि के शत्रु बनकर खान-पान, पहनावा आदि में बाह्य पदार्थों को महत्व देते हैं और विवेकबुद्धि को तिनाजलि दे बैठते हैं । जो लोग सदैव विवेकबुद्धि से काम लेते हैं, उनके लिए उपदेश की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

आप लोग शरीर पर पाच-छह कपड़े पहनते हैं । परन्तु क्या आपका शरीर इतने अधिक कपड़े पहनना चाहता है ? विवेकबुद्धि कहती है कि शरीर को इतने वस्त्रों की आवश्यकता नहीं है, फिर भी लोग ध्यान नहीं देते और अधिक कपड़े लादते हैं । यह कार्य बुद्धि के शत्रु होने के

समान है या नहीं ? इसी प्रकार अन्यान्य कर्तव्य भी ऐसे किये जाते हैं, जिनमें बुद्धि की हीनता प्रकट होती है और साथ ही साथ शरीर की, स्वास्थ्य की, धन की और धर्म की भी हानि होती है । फिर भी लोग इस ओर लक्ष्य नहीं देने । अनुप्रेक्षा करने से विवेकबुद्धि जागृत होती है और विवेक-बुद्धि की जागृति के फलस्वरूप हानिकरक वस्तुओं का त्याग करने का विचार उत्पन्न होता है सूत्रार्थ का चिन्तन अर्थात् अनुप्रेक्षा करने से विवेकबुद्धि जागृत होती है ।

साधारणतया अनुप्रेक्षा के अनेक अर्थ होते हैं, मगर यहाँ स्वाध्याय के साथ सम्बन्ध होने के कारण अनुप्रेक्षा का अर्थ है तत्त्वविचार करना । भगवान् से प्रश्न किया गया है कि अनुप्रेक्षा करने से अर्थात् सूत्रार्थ का चिन्तन करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—अनुप्रेक्षा करने में अध्ववसाय को विशुद्धि होती है और उसमें आयु कम के सिवाय शेष सात कर्मों की गाढ़ी बन्धी हुई प्रकृतियाँ शिथिल हो जाती हैं । कदाचित् निकाचित् कर्म का बन्धन हा तो वह भी शिथिल हो जाता है ।

टीकाकार का कथन है कि अनुप्रेक्षा निकाचित् कर्म को भी अपवत्तनाकरण के योग्य बना देती है । कारण यह है कि अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक अंग है और स्वाध्याय अन्तरंग तप है । तप में निकाचित् कर्म का बन्धन भी शिथिल हो सकता है । अतएव अनुप्रेक्षा निकाचित् कर्म को भी इस प्रकार शिथिल कर डालती है, जिससे वह कर्म अपवत्तनाकरण के योग्य बन सकता है । इस तरह अनुप्रेक्षा से गाढ़

बन्धन भी शिथिल हो जाते हैं और दीर्घकाल की स्थिति वाले कर्म भी अल्पकालीन स्थिति वाले बन जाते हैं ।

टीकाकार का कथन है कि देव, मनुष्य और तिर्यंच की दीर्घ स्थिति के सिवाय दूसरी समस्त दीर्घ स्थिति अशुभ है । देवायु; मनुष्यायु और तिर्यंचायु कर्म को छोड़कर समस्त कर्मों की दीर्घ स्थिति अशुभ ही मानी गई है । इस कथन के लिए प्रमाण देते हुए टीकाकार कहते हैं -

सत्त्वोऽसि पि थिईओ, सुभासुभाण पि होन्ति असुभाओ ।

मणुस्सा तिरच्छदेवाउयं च, मोत्तूण सेसाओ ॥

अर्थात्— दीर्घकाल की समस्त स्थितियाँ अशुभ हैं । केवल मनुष्य, देव और तिर्यंच के आयुष्य की दीर्घकालीन स्थिति ही अशुभ नहीं है ।

टीकाकार देव, मनुष्य और तिर्यंच के शुभ आयुष्य को छोड़कर और सब स्थिति अशुभ में गिनते हैं । अतएव यहाँ दीर्घकालीन स्थिति को अल्पकालीन करने का जो कथन किया गया है, सो यह कथन अशुभ स्थिति की अपेक्षा समझना चाहिए ।

गुरु कहते हैं—हे शिष्य ! अनुप्रेक्षा से शुभ अध्यवसाय होता है । सूत्रार्थ का चिन्तन करने से ऐसा शुभ अध्यवसाय होता है कि वह आयुष्य कर्म के सिवाय सात कर्मों के गाढ़े बन्धन को ढीला कर देता है । इसी प्रकार सात कर्मों को जो प्रकृति लम्बे समय की स्थिति वाली होती है उसे अल्पकाल की स्थिति वाली बना देती है । अर्थात् दीर्घकाल में भोगने योग्य कर्मों को अल्पकाल में भोगने योग्य बना देती है । इसके अतिरिक्त अनुप्रेक्षा से तीव्र अनुभाग भी मन्द

अनुभाग के रूप में परिणित हो जाता है अर्थात् तीव्र रस वाले कर्म मन्द रस वाले हो जाते हैं । यहाँ तीव्र अनुभाग से तीव्र अशुभ अनुभाग ही ग्रहण करना चाहिए । अनुप्रेक्षा के द्वारा तीव्र रस देने वाले कर्म मंद रस देने वाले बन जाते हैं । परन्तु यह बात अशुभ प्रकृतियों के लिए ही समझना चाहिए । अगर शुभ अनुभाग हो तो शुभ अनुभाग में वृद्धि होती है और अशुभ अनुभाग हो तो अशुभ अनुभाग की वृद्धि होती है, मगर अनुप्रेक्षा तीव्र अशुभ अनुभाग को मन्द बना देती है और शुभ अनुभाग की वृद्धि करती है, क्योंकि अनुप्रेक्षा शुभ है । शुभ से शुभ की ही वृद्धि होती है और अशुभ से अशुभ की वृद्धि होती है ।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ होता है ? इसके लिए भगवान् कहते हैं—अनुप्रेक्षा बहुत प्रदेशों वाली कर्म प्रकृति को अल्प प्रदेश वाली बनाती है ।

तात्पर्य यह है कि अनुप्रेक्षा से ऐसा शुभ अध्यवसाय उत्पन्न होता है कि वह कर्म की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश—इन चारों के अशुभ बन्धनों की शुभ में परिणत कर देता है ।

यहाँ एक प्रश्न किया जा सकता है, वह यह कि यहाँ आयुक्रम को छोड़ देने का क्या कारण है ? शुभ परिणाम से शुभ आयु का बन्ध होता है और मुनिजन जो अनुप्रेक्षा करते हैं वह शुभ परिणाम वाली ही होती है । ऐसी दशा में यहाँ आयुष्य का निषेध किस उद्देश्य से किया गया है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनुप्रेक्षा से आयुष्य कर्म का बन्ध कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं भी

होता । कारण यह है कि आयुष्य कर्म एक भव में एक बार ही बन्धता है और वह भी अन्तर्मूर्त्तकाल में बन्धता है । अगर अनुप्रेक्षा करने वाला ससार में रहता है तो भी वह अशुभ कर्म नहीं बाधता है, यदि वह मोक्ष जाता है तो आयुष्य कर्म का बन्ध ही नहीं करता । इस प्रकार अनुप्रेक्षा करने वाले को कदाचित् आयुष्य कर्म बन्धता है, कदाचित् नहीं बन्धता । इसी कारण यहाँ आयुष्य-कर्म छोड़ दिया गया है ।

अनुप्रेक्षा से और क्या लाभ है ? इस विषय में कहा गया है—अनुप्रेक्षा करने वाला असातावेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता अर्थात् बार-बार उसका बन्ध नहीं करता । यहाँ सूत्रपाठ में 'च' अक्षर भी आता है । वह इस बात का द्योतक है कि असातावेदनीय कर्म के समान अन्य अशुभ प्रकृतियाँ भी अनुप्रेक्षा करने वाला नहीं बाधता ।

यहाँ पर यह शका की जा सकती है कि मूल पाठ में 'भुज्जो भुज्जो' अर्थात् बार-बार पद का प्रयोग किस प्रयोजन से किया गया है ?

इस आशका का समाधान यह है कि उक्त पद का प्रयोग करने का आशय यह प्रतीत होता है कि प्रमत्त गुण-स्थान में वर्त्तमान जीव कदाचित् असातावेदनीय कर्म का बन्ध करता है, परन्तु वह बार-बार बन्ध नहीं करता । इसके अतिरिक्त पाई टीका के अनुसार यहाँ यह पाठान्तर भी है—

सायावेयणिज्जं च णं कम्मं भुज्जो भुज्जो उवचिणई ।

अर्थात्—अनुप्रेक्षा करने वाला बार-बार सातावेदनीय

कर्म बान्धता है ।

यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है । क्योंकि यहां प्रमत्तगुणस्थान का प्रश्न नहीं है वरन् अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप का ही प्रश्न है । अनुप्रेक्षा रूप अभ्यन्तर तप से शुभ प्रकृति का बन्ध होना ही संभव है, अतः यह पाठान्तर भी ठीक प्रतीत होता है ।

इस प्रकार अनुप्रेक्षा से कर्म की अशुभ प्रकृति नष्ट होती है और अशुभ प्रकृति नष्ट होने के बाद जो शुभ प्रकृति शेष रहती है, वह ससार के बन्धन में उस प्रकार डालने वाली नहीं है, जिस प्रकार अशुभ प्रकृति है । उदाहरण के लिए—वजन की दृष्टि से लोहे की बेड़ी और सोने की बेड़ी समान ही है, पर लोहे की बेड़ी सहज में तोड़ी नहीं जा सकती और सोने की बेड़ी जब चाहे तभी तोड़ी जा सकती है । लोहे की बेड़ी वाला इच्छा के अनुसार किसी भी जगह नहीं जा सकता, पर सोने की बेड़ी वाला चहे जहाँ जा सकता है और सम्मान प्राप्त कर सकता है । शुभ प्रकृति और अशुभ प्रकृति में भी ऐसा ही अन्तर है । शुभ प्रकृति वाला ससार से छूटने का उपाय कर सकता है परन्तु अशुभ प्रकृति वाला वैसा नहीं कर सकता ।

शास्त्र के कथनानुसार शुभ प्रकृति वाला जीव इस अनादि ससार में से निकल सकता है । जीव और ससार का सम्बन्ध कब से है, इसकी कोई आदि नहीं है । कुछ लोगो का कथन है कि जीव मोक्ष पा जाता है पर वहाँ में मोह के प्रताप से वह वापिस ससार में जन्म धारण करता है । जैसे जल निर्मल अवस्था से मलीन अवस्था में और

मलीन से निर्मल अवस्था में पहुँच जाता है, उसी प्रकार जीव भी मोक्ष में जाता और फिर ससार में आ जाता है और फिर मोक्ष चला जाता है । आत्मा मोक्ष में तो चला जाता है मगर जब वह अपने शासन की उन्नति और दूसरों के शासन की अवनति देखता है तो उसे राग होता है और जब अपने शासन की अवनति तथा दूसरों के शासन की उन्नति देखता है तब उसे द्वेष होता है । इस प्रकार राग और द्वेष के कारण जीव मोक्ष में से फिर ससार में अवतार लेता है ।

यह कथन अत्यन्त अज्ञानपूर्ण है । जो आत्मा राग और द्वेष का क्षय होने पर मुक्त हुआ है, उसे फिर राग-द्वेष नहीं हो सकते और इस कारण वह ससार में भी नहीं आ सकता । मोक्ष को प्राप्त कर्म-रजहीन आत्मा भी अगर कर्मरज से लिप्त होकर फिर ससार में आ जाये तो ससार और जीव का सम्बन्ध सादि हो जायेगा और यह भी कहा जा सकेगा कि अमुक जीव अमुक समय से कर्म-रज-सहित है । मगर ऐसा मानना भूलभरा और भ्रामक है, क्योंकि जो जीव कर्मरज-रहित हो गया है वह फिर कर्म-रज-सहित नहीं हो सकता । इस प्रकार आत्मा का मोक्ष में जाकर फिर ससार में आना युक्तिसंगत नहीं है ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अगर अनादिकालीन है तो वह किस प्रकार नष्ट किया जा सकता है और जीव किस प्रकार निष्कर्म बन सकता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव और कर्म का

सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादि होने पर भी विशेष की अपेक्षा अनादि नहीं है। गंगा नदी के किनारे खड़े होकर चार दिन पहले जो जलधारा देखी थी, वही जलधारा चार दिन बाद भी देखी जाये तो वह पहले जैसी ही दिखाई देगी, मगर वास्तव में चार दिन पहले जो जलधारा देखी गई थी वह तो कभी की चली गई है। पानी की धारा लग तार बहती रहती है, इसी कारण उसका सम्बन्ध टूटा हुआ मालूम नहीं होता, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि यह वही जलधारा है जो चार दिन पहले देखी थी। मगर वस्तुतः वह जलधारा पहले की नहीं है। फिर भी उपचार से कहा जाता है कि यही वह जलधारा है। वास्तव में जो जलधारा पहले देखी गई थी वह तो उसी समय चली गई है। वर्तमान में तो नवीन ही जलधारा है, जो पहले नहीं देखी गई थी। इसी प्रकार आत्मा के साथ पहले जिन कर्मों का सम्बन्ध हुआ था, वे कभी के भोगे जा चुके हैं, मगर नवीन-नवीन कर्म सदैव आते और बँधते रहते हैं, इसी कारण यह कहा जाता है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है। शास्त्र के कथनानुसार कर्म की आदि भी है और अन्त भी है, परन्तु जीव के साथ कर्म एक के बाद दूसरे लगातार आते रहते हैं। इसी कारण जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादिकालीन है।

आयका की जा सकती है कि कर्म जब लगातार आते और बँधते ही रहते हैं तो जीव कर्मरहित किस प्रकार हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि कर्मप्रवाह को रोक देने से जीव कर्मरहित हो जाता है। नदी के ऊपर से आने वाले प्रवाह को रोक दिया जाये तो धारा टूट जाती



है । उसी प्रकार कर्मप्रवाह को रोक देने से अर्थात् नवीन कर्मों को न आने देने से जीव कर्मरहित हो जाता है ।

दूध और घी साथ ही होते हैं । दूध और घी के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि पहले दूध हुआ या घी । फिर भा क्रिया द्वारा दूध और घी पृथक्-पृथक् किये जा सकते हैं । इसी प्रकार यह भी नहीं कहा जा सकता कि पहले आत्मा या पहले कर्म है ? कर्म आत्मा के साथ ही है । अनादिकाल से आत्मा कर्मों के साथ और कर्म आत्मा के साथ बद्ध हैं यह कहा जा सकता है । फिर भी प्रयोग द्वारा जैसे दूध में से घी अलग किया जा सकता है, उसी प्रकार पुरुषार्थ द्वारा आत्मा और कर्मों का भा पृथक्करण हो सकता है । अरणि को लकड़ी के साथ हा आग उत्पन्न होती है, फिर भी उस लकड़ी को घिसने से आग उसमें से बाहर निकल जाती है । इसी प्रकार जीव और कर्म के संयोग भी आदि नहीं है, तथापि प्रयत्न द्वारा जीव और कर्म पृथक् किये जा सकते हैं ।

शास्त्रकार कर्म को ही दुःख कहते हैं । श्री भगवती-सूत्र में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न पूछा है कि—दुःखी जीव दुःख का स्पर्श करता है या अदुःखी जीव दुःख का स्पर्श करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है—‘दुःखी जीव ही दुःख का स्पर्श करता है, दुःखरहित जीव दुःख का स्पर्श नहीं करता ।’ यहाँ दुःख का अर्थ कर्म है । अर्थात् जिसमें कर्म है वही जीव कर्म का बन्ध करता है, फिर भले ही वह कर्म शुभ हो या अशुभ हो । शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्म आत्मा के ऊपर आवरण डालते हैं और दोनों प्रकार के कर्म वस्तुतः दुःखरूप ही हैं । अतः

कर्म को दुःख रूप मानकर आत्मा को कर्महीन करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

लोग समझते हैं कि हमें अमुक ने दुःख दिया है या अमुक ने मारा है । मगर ज्ञानीजन कहते हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता । इसके साथ ही ज्ञान पुरुष कहते हैं कि तुम दुःख देने या मारने के कार्य का बाह्य कारण तो देखते हो मगर उसका आन्तरिक कारण नहीं देखते । तुम यह तो कहते हो कि मुझे रोग हुआ है लेकिन यह क्यों नहीं देखते कि रोग आया कहाँ से है ? यद्यपि रोग के कोटाणु हवा में भी आ सकते हैं तथापि अगर तुम सावधानी रखो और रहन-सहन तथा खानपान वगैरह का ध्यान रखो तो रोग ही क्यों हो ? तुम जानते हो कि फलाचीज हानिकारक है फिर भी उसे खाना क्या रोग को आमन्त्रण देने के समान नहीं है ? अतः यदि सावधानी रखी जाये तो रोग उत्पन्न ही क्यों हो ? यही बात प्रत्येक कार्य के लिए लागू करो और कर्म के विषय में भी यही देखो कि अगर सावधानी रखी जाये और प्रयत्न किया जाये तो कर्म आयें कैसे ? और आत्मा को दुःख हो कैसे ? आत्मा को दुःख नहीं हो इसीलिए यह प्रार्थना की गई है —

इवासोश्वास विलास भजन को, दृढ़ विश्वास पकड़ रे ।

अजपाभ्यास प्रकाश हिये विच, सो सुमरण जिनवर रे ॥

भक्त कहते हैं—दुःख से बचने के लिए परमात्मा का भजन करो । अगर कोई कहे कि मुझे तो समय ही नहीं मिलता, तो फिर भजन किस प्रकार करूँ ? ऐसा कहने वालों को भक्त उत्तर देते हैं - परमात्मा का भजन करने के लिए

तुझे समय नहीं मिलता तो न सहो । कोई हानि नहीं है । क्योंकि इस कार्य के लिए किसी खास अलग समय को आवश्यकता नहीं है । परमात्मा का भजन किस प्रकार करना चाहिए, यह सीखने के लिए तो समय की आवश्यक-रहती है, लेकिन परमात्मा का स्मरण करने के लिए किसी खास समय की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है । इसका अभ्यास तो श्वासोच्छ्वास की तरह हो जाता है । जब परमात्मा के स्मरण का अभ्यास श्वासोच्छ्वास लेने और छोड़ने के अभ्यास की तरह स्वाभाविक बन जाये तो सम्भना चाहिए कि परमात्मा का भजन स्वाभाविक रूप से हो रहा है ।

शास्त्र में कितनेक ऐसे उपाय बतलाये गये हैं कि परमात्मा का नाम न लेने पर भी उसका भजन किया जा सकता है । अजपाभ्यास हो जाने से परमात्मा का नाम लेने की भी आवश्यकता नहीं रहती । परमात्मा का नाम न लेने पर भी परमात्मा का स्मरण करने के अनेक उपायों में से एक उपाय है—प्रामाणिकतापूर्वक अपने कर्त्तव्य का पालन करना । प्रामाणिकतापूर्वक कर्त्तव्य का पालन करने से परमात्मा का नाम न लेने पर भी परमात्मा का स्मरण हो जाता है । मान लो, तुम किसी के नौकर हो । तुम्हारा स्वामी सदैव तुम्हारे साथ नहीं रहता । फिर भी तुम्हें यही मानना चाहिए कि तुम्हारा स्वामी तुम्हारे सामने ही है, अतः प्रामाणिकता के साथ काम करना चाहिए । स्वामी भले ही मेरा काम न देखता हो, मगर परमात्मा तो मेरा काम देखता ही है । अतएव मुझे अपने काम में अप्रामाणि-

कता का व्यवहार नहीं करना चाहिए । इस प्रकार अपने कर्त्तव्य में प्रामाणिकता रखना परमात्मा का नाम लिये बिना ही परमात्मा के स्मरण करने का और सुखी होने का सरल उपाय है । अगर परमात्मा के भजन के लिए तुम्हें अलग समय नहीं मिलता तो इसी भाँति परमात्मा का स्मरण करो । कोई भी कार्य करते समय यही समझना चाहिए कि परमात्मा हमारा कार्य देख रहा है । इस प्रकार समझ कर प्रामाणिकतापूर्वक कार्य करना भी परमात्मा का स्मरण ही है । मगर लोग प्रायः ऐसा करते देखे जाते हैं कि ऊपर से तो परमात्मा का नाम स्मरण करते हैं, मगर कार्य करते समय मानो परमात्मा को भूल ही जाते हैं । लेकिन यह सच्चा नामस्मरण नहीं है । अगर परमात्मा को दृष्टि के सामने रखकर प्रामाणिकता के साथ कर्त्तव्य का पालन किया जाये तो स्व-पर कल्याण हो सकता है ।

अनुप्रेक्षा का अन्तिम फल क्या है, यह बतलाते हुए भगवान् कहते हैं - अनुप्रेक्षा करने से जीवात्मा अनादि, अनन्त, दोघ्न मार्ग वाले अपार चतुर्गतिरूप ससार-अरण्य को शीघ्र ही पार कर जाता है ।

जिसका किनारा दिखलाई देता हो उसे पार करना कठिन नहीं है, किन्तु जो अपार है, जिसका किनारा नजर नहीं आता, उसे पार करना बहुत कठिन है । अब इस बात पर विचार करो कि जो वस्तु अपार के पार पहुँचा देती है, वह कैसी होगी ? यहाँ ससार को प्रवाह की अपेक्षा अपार कहा गया है । यह अपार ससार अनादि है । देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक यह चार गतियाँ इस अपार ससार के

चार किनारे हैं । इन चार गति रूप किनारों से ससार का अन्त तो मिलता है, मगर इस ससार-अटवी का मार्ग इतना लम्बा है कि जीव भ्रम के कारण भूल में पड़ जाता है और इस कारण बाहर निकलना उसके लिए कठिन हो जाता है । फिर भी अनुप्रेक्षा का अवलम्बन लेकर जीव इस ससार-अटवी को भी पार कर सकता है ।

मान लीजिए किसी नगर में जाने का मार्ग विकट और दुर्गम है । उस मार्ग में, बीच-बीच में विश्राम-स्थल बने हैं । ऐसी स्थिति में एक विश्राम-स्थल से दूसरे विश्राम-स्थल तक, दूसरे में तीसरे विश्राम स्थल तक, इस तरह आगे बढ़ते जाने से विकट और दुर्गम मार्ग भी तय किया जा सकता है । लेकिन अगर मार्ग में ही भटक गये-राम्ता ही भूल गये और यही पता न चला कि अब किस ओर जाना है तो नगर में पहुँचना कठिन हो जाता है । ऐसे मनुष्य के लिए उस नगर का मार्ग विकट और दुर्गम ही है । इसी प्रकार ससार भी अपार है, यद्यपि चार गलियाँ उसके चार किनारे हैं और उसे पार भी किया जा सकता है । मगर जो भ्रम में पड़कर एक गति से दूसरी गति में ही भटकता रहता है, उसके लिए ससार अपार ही है । नरक गति का भी पार आता है, मनुष्य गति का भी पार आता है । वनस्पति काय की लम्बी स्थिति होने पर भी उसका पार आ जाता है । देवगति की स्थिति का भी अन्त है । इस प्रकार देव, मनुष्य, नरक और तिर्यँच, यह चारों गतियाँ ससार के किनारे तो हैं लेकिन उसका मार्ग लम्बा है । इस कारण जीव फिर उसमें पड़ जाता है और इस प्रकार ससार में ही

गोते लगाता रहता है। इसी कारण ससार अपार कहलाता है। अनुप्रेक्षा से यह अपार ससार भी शीघ्रतापूर्वक पार किया जा सकता है।

कोई मनुष्य अपार समुद्र में गिर पडा है। इसी बीच उसे कोई नौका मिल जाती है। नौका का मालिक समुद्र में पडे मनुष्य से कहता है—‘आ जा, जल्दी कर, इस नौका पर सवार हो जा।’ क्या समुद्र में पडा मनुष्य ऐसे समय विलम्ब करेगा ? अगर वह मनुष्य विचारशील होगा तो इतना विचार अवश्य करेगा कि जो मनुष्य मुझे नौका पर चढने के लिए कह रहा है, वह राग-द्वेष से भरा तो नहीं है ? और मुझे किसी राग-द्वेष से प्रेरित होकर तो नौका पर चढने को नहीं कहता ? इस प्रकार विचार करने के बाद अगर उसे खातिरी हो जाये कि वह मनुष्य निस्पृह है और निस्पृहभाव से ही मुझे नौका पर चढने के लिए कहता है तो अगर वह बुद्धिमान् है तो नौका पर चढने में विलम्ब नहीं करेगा। बुद्धिमान् मनुष्य ऐसे अवसर पर नौका का शरण लिये बिना नहीं रह सकता। इसी प्रकार यह अनादि ससार भी अपार है। इस अपार ससार को पार करने के लिए अनुप्रेक्षा नौका के समान है। ऐसी अवस्था में ससार को पार करने के लिए अनुप्रेक्षा रूपी नौका का शरण क्यों न लिया जाये ?

अनुप्रेक्षा ऐसी जीवनसाधक है, फिर भी सासारिक लोगो की दशा विचित्र ही नजर आती है। लोग दूसरे सामान्य कार्यों में तो व्यर्थ समय नष्ट करते हैं मगर अनुप्रेक्षा रूपी नौका को नहीं अपनाते।

‘वह ऐसा है, वह वैसी है और फलां आदमी ऐसा है ।’ इस प्रकार की अनेक विकथाओं में लोग अपना समय नष्ट करते हैं । उन्हें यह विचार नहीं आता कि कोई पुरुष चाहे जैसा हो, कोई स्त्री कैसी भी हो, उसकी निन्दा करने से हमें क्या लाभ होगा ? दूसरों की बुराई देखने और निन्दा करने से मुझे क्या लाभ होगा ? मैं यही क्यों न देखू कि मैं कैसा हूँ ! मुझमें कितने विकार भरे हैं, यह मैं न देखू और दूसरों के दोषों की टीका करूँ, यह कहा तक उचित है ? दूसरे के दोष न देखकर अपने ही दोषों को दूर करने में भलाई है ।

बुद्धिमान् पुरुष दूसरे की निन्दा में नहीं पड़ते । वह परमात्मा का शरण लेकर अपनी बुद्धि निर्मल बनाते हैं और अपने अवगुण देखकर कहते हैं -

है प्रभु ! मेरा ही सब दोष,

थीलसिन्धु कृपालुनाथ अनाथ आरतपोष ॥ है प्रभु० ।,

अर्थात् - प्रभो ! सारा दोष मेरा ही है, और किसी का नहीं । इस प्रकार भक्तजन अपना ही दोष मानते हैं । इसी तरह तुम भी अगर परमात्मा का शरण ग्रहण करके अपनी बुद्धि निर्मल बनाओ तो तुम्हें भी यह जान पड़ेगा कि सारा दोष मेरा ही है । अगर तुम्हारा कोई पड़ोसी दुखी हो तो इसमें तुम्हारा दोष है या नहीं ? पड़ोसी के दुखी होने में तुम्हारा पाप भी कारण हो सकता है । शास्त्र के कथनानुसार इष्ट गन्ध, इष्ट रूप आदि पुण्य के प्रभाव से ही प्राप्त होने हैं । तुम इष्ट गन्ध वगैरह चाहते हो तो भाववस्तु की ओर क्यों नहीं देखते ? तुम यह क्यों नहीं

ममभक्ते कि अगर मेरा पुण्य प्रबल होता तो मुझे दुखी पडौसी क्यों मिलता ? अतएव यदि पडौसी दुखी है तो यह मेरा ही दोष है । तुम्हारा पुण्य और तुम्हारा पाप दूर-दूर तक काम करता है । शास्त्र में कहा है कि लवणसमुद्र की वेलाएँ सोलह हजार डगमाला के ऊपर चढती हैं । उन्हे अगर दवा न दिया जाये तो गजब हो जाये ! परन्तु बयालीस हजार देव जम्बूद्वीप की तरफ से, साठ हजार देव ऊपर से और बहत्तर हजार देव धातकीखड की ओर से उन समुद्र वेलाओं को दवाये रखते हैं । इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किया है— हे भगवन् ! क्या वह समुद्रवेला देवों के दवाने से दब जाती है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा - 'देव तो अपना कर्त्तव्य पालते हैं । वास्तव में समुद्रवेला देवों के दवाने से दब-ी नहीं है । समुद्रवेला तो जम्बूद्वीप और धातकीखड में रहने वाले अरिहंतों, चक्रवर्त्तियों, वासुदेवों, बलदेवों, साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका एव सम्यग्दृष्टि जीवों के पुण्य-कार्य से दबी रहती है ।' इस प्रकार तुम्हारा पुण्य वहाँ भी कार्य कर रहा है । अतएव मानना चाहिए कि मेरी पुण्यकरणी के फल का प्रभाव दूसरी जगह और दूसरों पर भी पडता है । इसलिए मुझे खराब काम नहीं करना चाहिए, अच्छी करणी करते रहना चाहिए । मुझे दूसरों के दोष न देखकर अपने ही दोष देखना चाहिए, और दूसरों की निन्दा का त्याग करके अनुप्रेक्षा करना, जिससे इस विकट ससार-अटवी का अन्त किया जा सके ।

अगर कोई व्यक्ति शास्त्र की अनुप्रेक्षा कर सके तब तो अच्छी ही है, लेकिन जो शास्त्र नहीं जानते उन्हे पर-



मात्मा का नाम स्मरण करने रूप अनुप्रेक्षा करनी चाहिए। जो कुछ भी किया जाये, शुद्ध हृदय से करना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि—

वैश वचन विराग मन अघ, अवगुणों का कोष ।

प्रभु प्रीति प्रीतीति पोली, कपट करतब ठोस ॥हे प्रभु॥

अर्थात्-- वैश मे और वचन मे वैराग्य दिखलाया जाये और मन मे पाप रहे तो वह अनुप्रेक्षा किसी काम की नहीं रहती परमात्मा के वचन पर विश्वास न करना और झूठ-कपट पर विश्वास करना अनुप्रेक्षा नहीं, कपट है। अनुप्रेक्षा करने मे किसी प्रकार की दुर्भावना या सासारिक कामना नहीं होनी चाहिए। ससार मे रहकर सद्विचार करने वाला व्यक्ति ससार का उपकार करता है, और हिमालय की गुफा मे बैठ कर भी असद् विचार करने वाला पुरुष न केवल अपना ही वरन् ससार का भी अहित करता है। अतएव दूसरो की निन्दा करना छोडकर अपने विकारो को देखो और परमात्मा की प्रार्थना द्वारा उन्हे दूर करके निर्मल बनो। ऐसा करने से तुम्हारा कल्याण होगा।

कहने का आशय यह है कि अनुप्रेक्षा से आत्मा चतुर्गति रूप ससार को पार कर सकता है, अतः अपने चित्त को अनुप्रेक्षा करने मे पिरो दो। तुम कह सकते हो कि चित्त बड़ा चंचल है, इसे अनुप्रेक्षा मे किस प्रकार पिरोया जाये? इसका उत्तर यह है कि चित्त तो चंचल है, चंचल था और चंचल रहेगा, परन्तु योग की क्रिया द्वारा चंचल चित्त भी स्थिर किया जा सकता है। योग की क्रिया द्वारा चित्त स्थिर करके अनुप्रेक्षा करोगे तो बहुत लाभ होगा।

अगर इतना न बन सके तो कम से कम इतना अवश्य करो कि चित्त को बुरी बातों की ओर मत जाने दो । अगर चित्त को इतना भी काबू में रखने की सावधानी रखोगे तो भी बहुत कुछ कल्याण कर सकोगे । जब बालक परो से चलना सीख लेता है तब उसे एक जगह बैठने के लिए कहा जाये तो वह नहीं बैठ सकता । वह इधर-उधर फिरता रहता है । अतएव इस बात को सावधानी रखनी पड़ती है कि बालक कहीं गड्ढे में न गिर जाये । मन को भी नन्हें से बालक के समान ही समझो । योगक्रिया के बिना मन रोकना नहीं जा सकता, अतः इस पर सद्गुरु के वचनों का पहरा रखो जिससे यह खराब कामों की तरफ न चला जाये । बालक कुसंगति में जाता हो तो रोकना पड़ता है । इसी प्रकार यह मन खराब संगति में न चला जाये, इस बात की खास सावधानी रखना उचित है । कितने-कितने कष्ट सहने के बाद यह मन मिला है । और उसमें भी सम्यग्दृष्टि तथा श्रावक के मन का कितना अधिक महत्व है । इस पर विचार करो । बड़ी-बड़ी कठिनाइयों के बाद मिला हुआ मन कहीं बुरे काम की ओर न चला जाये, इस बात की कितनी चिन्ता रखनी चाहिए ? किसी बड़े आदमी का लड़का कुसंगति में पड़ जाता है तो उसके लिए कितनी चिन्ता की जाती है ? इसी प्रकार तुम भी अपने मन को बुराई की ओर न जाने देने की चिन्ता रखो । अगर मन को काबू में कर लिया तो आत्मकल्याण साधने में देर न लगेगी ।



# तेईसवां बोल

## धर्मकथा

---

पिछले प्रकरण मे अनुप्रेक्षा पर विचार किया गया है । यहा धर्मकथा के सम्बन्ध मे विचार करना है । अनुप्रेक्षा करने वाला ही धर्म का उपदेश दे सकता है । लोग समझते हैं, धर्मोपदेश देना सरल काम है, मगर दरअसल यह बड़ा कठिन काम है । धर्मोपदेश द्वारा लोगो को सन्मार्ग पर भी लाया जा सकता है और कुमार्ग पर भी घसीटा जा सकता है । गांधीजी ने अपने एक लेख मे 'हिन्दू-धर्म का उपदेश कौन दे सकता है' इस विषय मे अपने विचार प्रकट किये थे । गांधीजी के विचार बतलाने से पहले यह बतला देना आवश्यक है कि इस विषय मे शास्त्र क्या कहता है । श्रीसूयगडाग के ग्यारहवे अध्ययन मे कहा है.—

आयगुत्ते सया दत्ते छिन्नसोए अणासवे ।

ते सुद्धधम्माक्खति पडिपुण्ण मणेलिसं ॥

भगवान् से यह प्रश्न किया गया है कि जिस काल मे वीतराग देव नही होते, उस काल मे उनके मार्ग का उपदेश देने का अधिकारी कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा—अपनी आत्मा को गुप्त रखने वाला,

क्षमावान्, इन्द्रियो का दमन करने वाला और निरास्रव पुरुष ही वीतराग के मार्ग का उपदेश दे सकता है । जो हिंसा न करता हो, असत्य भाषण न करता हो, किसी की तिनका जैसी तुच्छ चीज भी बिना आज्ञा न लेता हो, स्त्रीमात्र को माता के समान समझता हो और जो धर्मोपकरणों पर यहाँ तक कि अपने शरीर पर भी ममत्व न रखता हो वही व्यक्ति शुद्ध धर्म का उपदेश दे सकता है ।

धर्म का उपदेश कौन दे सकता है, इस विषय में भगवान् महावीर का कथन बतलाया जा चुका । अब यह देखना है कि इस सम्बन्ध में गांधीजी क्या कहते हैं ? गांधीजी ने अपने लेख में लिखा था कि हिन्दूधर्म का उपदेश न तो बड़े-बड़े विद्वान् ही दे सकते हैं और न शंकराचार्य ही दे सकते हैं । हिन्दूधर्म का उपदेश देने का अधिकारी वही है जो हिंसा न करता हो असत्य न बोलता हो तथा जो चोरी, मत्थन और परिग्रह वगैरह दुर्गुणों से बचा हुआ हो ।

इस प्रकार धर्मकथा करना अर्थात् धर्मोपदेश देना कुछ सरल काम नहीं है । मगर आज तो धर्मोपदेशक बोलने के लिए तत्पर ही रहते हैं, चाहे वे धर्मोपदेश देने के अधिकारी हो या न हो । शास्त्र कहता है— धर्मोपदेश देने से पहले वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना और अनुप्रेक्षा इन चार बातों का सिद्ध कर लेना आवश्यक है । इन्हें सिद्ध कर लेने वाला ही धर्मोपदेश दे सकता है । वाचना आदि चार बातों को सिद्ध किये बिना जो उपदेश दिया जाता है वह लोगों के हृदय पर सच्चा प्रभाव डालने के बदले उल्टा असर डाल सकता है । शास्त्र में धर्मकथा सम्बन्धी प्रश्न उक्त चार बातों

के बाद इसी कारण रखा गया है। जिसमें वाचना, पृच्छना, परावर्तना और अनुप्रेक्षा—यह चार बातें हो वही धर्मकथा कर सकता है। इस धर्मकथा के विषय में भगवान् से यह प्रश्न किया गया है.—

### भूलपाठ

प्रश्न—धम्मकहाए णं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—धम्मकहाए णं णिज्जर जणयइ, धम्मकहाए णं पवयण पभावेइ, पवयणपभावेण जीवे आगमेसस्स भद्ताए कम्म निवधइ ?

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर धर्मकथा से निर्जरा होती है और जिन भगवान् के प्रवचन की प्रभावना होती है। प्रवचन—प्रभाव से जीव भविष्यकाल में शुभ कर्म का बन्ध करता है।

### व्याख्यान

धर्मकथा करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने पहली बात तो यह कही है कि धर्मकथा करने वाले के कर्मों की निर्जरा होती है। धर्मकथा करने वाला किसी भी प्रकार के प्रलोभन में न पडकर यही समझे कि धर्मकथा के द्वारा मैं अपने कर्मों की निर्जरा कर रहा हूँ।

स्त्रियां अपने घर का कचरा साफ करती हैं । क्या इसके बदले वे किसी से पैसा मागती हैं ? माता अपनी सतान की सेवा करती है, पर क्या वह सतान से बदले में कुछ मागती है ? अपने घर का कचरा साफ करने वाली स्त्री और अपनी सतान की सेवा करने वाली माता किसी प्रकार का बदला नहीं माँगती । इसका कारण यह है कि वे उस कार्य को अपना ही कार्य समझती हैं । जब माता भी अपना कार्य समझ कर किसी प्रकार का बदला नहीं चाहती तो यह कैसे उचित कहा जा सकता है कि साधु धर्मकथा करने का बदला चाहे ? साधु को समझना चाहिए कि मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, वह सब आत्मा का कचरा साफ करने के लिए ही कर रहा हूँ अतएव मुझे अपने कार्य का बदला मागना या चाहना किसी भी प्रकार उचित नहीं है । इतना ही नहीं, वरन् वाह-वाह की भी इच्छा उसे नहीं करना चाहिए । साधु को निर्जरा के निमित्त ही सब कार्य करना चाहिए । घर का कचरा साफ करने वाली स्त्री यह नहीं सोचती कि मैं किसी पर एहसान या उपकार कर रही हूँ । इसी प्रकार साधु को भी धर्मकथा करके एहसान नहीं करना चाहिए, न अभिमान ही करना चाहिए । इसी प्रकार साधु को इस बात से दुखी भी नहीं होना चाहिए कि मेरी बात कोई मानता नहीं है या सुनता नहीं है ।

कहने का आशय यह है कि जब अपनी आत्मा को पवित्र बना लिया जाये तभी धर्मकथा की जा सकती है । जिस बात का उपदेश देना हो, उसके लिए पहले साधु को स्वयं ही सावधान होना चाहिए कि मेरी बात कोई माने या न माने, पर मुझे तो इससे लाभ ही होगा ! उदाहर-

णार्थ—जो साधु या साध्वी स्वयं रेशमी वस्त्र पहनेगा वह दूसरो को उसके त्याग का उपदेश किस प्रकार दे सकेगा ? साधु को सिर्फ लज्जा की रक्षा के लिए शास्त्रविहित और परिमित वस्त्र रखना चाहिए । उन्हे ऐसे वस्त्रो का उपयोग नही करना चाहिए जो मोह उत्पन्न करे अर्थात् कीमती या सुन्दर हो । हम मे अभी तक वस्त्रों का सर्वथा त्याग कर देने की शक्ति नही आई है, अतएव हमें वस्त्र पहनने पडते हैं, परन्तु वे वस्त्र इतने सादे होने चाहिए कि फैशन के भाव भी उत्पन्न न हो और मोह भी न उ पन्न हो ।

मतलब यह है कि साधुओ को इस बात का दुःख नही मानना चाहिए कि हमारा उपदेश कोई मानता नही या सुनता नही । उन्हें केवल यही सोचना चाहिए कि मेरा उपदेश कोई माने या न माने, अगर मैं स्वयमेव अपने उपदेश के अनुसार बर्ताव करूँगा तो मेरा कल्याण ही होगा ।

धर्मकथा किसे कहते है ? और धर्मकथा के कितने भेद हैं ? इस विषय मे श्रीमथानागसूत्र मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । मगर उस सारे वर्णन का सार यही है कि धर्मकथा में धर्म की ही बात होनी चाहिए, दूसरी कोई बात नही होनी चाहिए । धर्मकथा करते समय कभी-कभी स्त्री, राजा या राज्य की ब त भी चल पड़ती है लेकिन यह सब बातें धर्म की सिद्धि के लिए ही होनी चाहिए । धर्मकथा मे ऐसा कोई भी वर्णन नही आना चाहिए जिससे मोह की वृद्धि हो । मोह की वृद्धि करने वाली कथा धर्मकथा नही बरन् मोहकथा है ।

आजकल धर्मकथा के नाम पर ऐसे-ऐसे रास गाये

जाते हैं कि उन्हें सुनकर श्रोता और अधिक मोह में पड़ जाते हैं । इस प्रकार मोहपोषक रासों का गाना धर्मकथा किस प्रकार कहा जा सकता है ? धर्मकथा वही है, जिसे सुनकर मोह उत्पन्न न हो, बल्कि धर्मभावना ही उत्पन्न हो । किसी भी वस्तु का सदुपयोग भी हो सकता है और दुरुपयोग भी हो सकता है । इसी प्रकार उपदेश द्वारा धर्मभावना पुष्ट करने वाली धर्मकथा भी कही जाती है और मोह उत्पन्न करने वाली मोहकथा भी कही जा सकती है । मगर सच्ची धर्मकथा तो वही है जो धर्मभावना को ही बढ़ाती हो ।

भगवान् से पूछा गया है कि धर्मकथा करने से किम फल की प्राप्ति होती है ? प्रत्येक कार्य की अच्छाई-बुराई का निर्णय उसके अच्छे या बुरे फल को देखकर ही किया जाता है । फल अच्छा हो तो वह कार्य भी अच्छा माना जाता है और यदि फल अच्छा न हो तो कार्य भी अच्छा नहीं माना जाता । अब यहाँ यह देखना है कि धर्मकथा का फल कैसा मिलता है ? धर्मकथा का एक फल भगवान् ने निर्जरा होना बतलाया है । अतः जिससे निर्जरा हो वह धर्मकथा है और जिससे निर्जरा न हो वह धर्मकथा भी नहीं है ।

यहाँ निर्जरा का अभिप्राय कर्म की निर्जरा होना है । धर्मकथा से कर्मों की निर्जरा हुई है या नहीं, इसकी पहचान विकारों का दूर होना है । अगर विकार दूर हो और चित्त को शान्ति प्राप्त हो तो समझना चाहिए कि हमने धर्मकथा की है । ऐसा न हो तो वह धर्मकथा ही नहीं । जिससे प्यास बुझे वही पानी है, जिसमें भूख मिटे वही भोजन है । इसी प्रकार अगर चित्त के विकार दूर हो और शान्ति प्राप्त



हो तो समझना चाहिए कि हमारे कर्मों की निर्जरा हो रही है और जिससे कर्मों की निर्जरा हो वही धर्मकथा है ।

धर्मकथा से चित्त के विकार दूर होते हैं और चित्त को शान्ति मिलती है । इस कारण सब से पहले यह देख लेने की आवश्यकता है कि अपने विकार कौन-से हैं ? डक्टर रोगी को दवा देने से पहले रोग का निदान करता है । जब तक रोग का निदान न किया जाये तब तक दवा कैसे दी जा सकती है ? इसी तरह जबतक विकारों का पता न लगा लिया जाय तब तक यह बात कैसे जानी जा सकती है कि धर्मकथा सुनने से विकार दूर हुए हैं या नहीं ? इस कारण सर्वप्रथम अपने विकारों को जान लेने की आवश्यकता है । विकारों में सब से बड़ा विकार मोह है । मोह अन्य विकारों का बीज है । उसीसे दूसरे विकार उत्पन्न होते हैं । फिर भले ही वह मोह काम का हो या क्रोध का हो, लोभ का हो या दूसरे प्रकार का हो । मगर विकारों का राजा मोह ही है । जिसे सुनने से मोह में कमी हो वही धर्मकथा है, और जिसे सुनने से मोह में कमी न हो, बल्कि मोह उलटा बढ़ जाये, वह धर्मकथा नहीं, मोहकथा है ।

तुम व्याख्यान सुनने के लिए प्रतिदिन आते हो । मगर यह देखो कि क्या तुमने धर्मकथा सुनी है ? अगर सुनी है तो क्या तुम्हारे विकार मिटे या कम हुए हैं ? अगर नहीं, तो यही कहा जा सकता है कि या तो धर्मकथा सुनने वालों में कोई खामी है या सुनाने वाले में कोई कमी है । मैं अपने सम्बन्ध में तो यही मानता हूँ कि खामी मुझ में ही है । भगवान् का उपदेश सुनकर तो शेर और बकरी भी आपस का वैरभाव छोड़ देते थे ।

तुम लोग मेरा उपदेश सुनकर अगर वैरभाव नहीं छोड़ते तो इसमें मेरी ही कमी समझनी चाहिए। मुझे अपनी खामी दूर करना चाहिए। अगर तुम अपनी खामी मानने होओ तो तुम्हें भी उसे दूर करना चाहिए। मेरा व्याख्यान देना और तुम्हारा व्याख्यान सुनना कर्म की निर्जरा के लिए ही होना चाहिए। इस प्रकार धर्मकथा का एक फल तो कर्मों की निर्जरा होना है।

धर्मकथा का दूसरा फल क्या है ? इस सम्बन्ध में भगवान् कहते हैं—जो धर्मकथा करता है वह प्रवचन की प्रभावना करता है।

वचन और प्रवचन में बहुत अन्तर है। वचन साधारण होता है और प्रवचन में दूसरों की लाभ-हानि समाई रहती है। उदाहरणार्थ एक न्यायाधीश अपने घर पर घर के लोगो से बात-चीत करता है और वही न्यायाधीश न्यायालय में न्याय के आसन पर बैठकर न्याय करता है। इन दोनों प्रकार की बातों में कितना अन्तर है ? घर की बातों से किसी का वैसा लाभ-हानि नहीं, मगर न्यायालय में बैठकर न्याय देने में दूसरों का लाभ और अलाभ होता है। वचन और प्रवचन में भी इतना ही अन्तर है। साधारण बातचीत को वचन कहते हैं और जिस वचन में दूसरों का लाभ-अलाभ हो उसे प्रवचन कहते हैं। दूसरों के प्रवचन से तो हानि भी हो सकती है मगर वीतराग के प्रवचन में एकान्त लाभ ही लाभ है। इस प्रकार के प्रवचन की उपेक्षा करना भारी भूल है। इसी भूल के कारण जीव अनादिकाल से ससार में भ्रमण कर रहा है। इस प्रकार की भूल करना मोह का ही प्रताप है।

न्याय करते समय अधेरा हो जाये तो न्यायाधीश को प्रकाश की सहायता लेनी पड़ती है, इसी प्रकार निर्ग्रन्थ प्रवचन तो है मगर उसे प्रकाशित करने वाले मूर्खता ही हैं। जो धर्मकथा करता है अर्थात् धर्मदेशना देता है, उसके लिए भगवान ने कहा है कि वह प्रवचन की आराधना करता है। प्रवचन की आराधना करने वाला इस काल में भी भद्र अर्थात् कल्याणकारी फल प्राप्त करता है और आगामी काल में भी कल्याणकारी फल प्राप्त करता है।

धर्मकथा करते समय धर्मोपदेशक को यह ख्याल रखना चाहिए कि धर्मकथा के द्वारा मुझे प्रवचन की सेवा करनी है। मुझे धर्मकथा को लोकरजन का साधन नहीं बनाना है। इसी भावना के साथ धर्मकथा करनी चाहिए।

सयोगवश आज ज्ञानपंचमी का दिन है। यह दिन ज्ञान की आराधना करने का है। शास्त्र में कहा है -

पढमं नाणं तश्चो दया एवं चिदुइ सव्वसंजए ।

अन्नाणी किं काही किं वा नाहीइ छेय पावगं ॥

— दशवैकालिकसूत्र ।

अर्थात्—पहले ज्ञान की आवश्यकता है और फिर दया आवश्यक है। दया श्रेष्ठ है पर ज्ञान के बिना दया नहीं हो सकती। दया के लिए ज्ञान होना आवश्यक है। वही दया श्रेष्ठ है जो ज्ञानपूर्वक की जाती है। इसी प्रकार ज्ञान भी वही श्रेष्ठ है जिसमें दया का आविर्भाव होता है। ज्ञान और दया का सम्बन्ध वृक्ष और उसके फल के सम्बन्ध के समान है। ज्ञान वृक्ष है तो दया उसका फल है। ज्ञान-रहित दया और दयारहित ज्ञान सार्थक नहीं है।

क्रियात्मक ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है । व्यवहार में भी क्रियात्मक ज्ञान की आवश्यकता है और आध्यात्म में भी । जब व्यवहार में भी सक्रिय ज्ञान उपयोगी होता है तो क्या धर्म के मार्ग में सक्रिय ज्ञान की आवश्यकता नहीं होगी ? अतएव धर्ममार्ग में भी सक्रिय ज्ञान होना आवश्यक है ।

आज धार्मिक क्षेत्र में ज्ञान की कमी नजर आती है । तुम्हारे बालक श्रावक-कुल में जन्मे हैं और उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया है फिर भी अगर उन्होंने धार्मिक ज्ञान का उपार्जन न किया अर्थात् जीव-अजीव का भेद भी न जाना तो ज्ञान की कितनी त्रुटि समझनी चाहिए ? तुम प्रयत्न करो तो अपने बालको के व्यावहारिक ज्ञान को ही आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत कर सकते हो । आत्मा का कल्याण केवल व्यावहारिक ज्ञान से नहीं हो सकता । आत्म-कल्याण के लिए आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता है । अतएव तुम अपने बालको को अगर शान्ति देना चाहते हो तो उन्हें आध्यात्मिक ज्ञान देना चाहिए । यह बात दूसरी है कि आज पहले के समान आध्यात्मिक ज्ञान न दिया जा सकता हो या उसकी आवश्यकता न समझी जाती हो, मगर समय के अनुसार आध्यात्मिक ज्ञान तो देना ही चाहिए । आत्मा अपना कल्याण आध्यात्मिक ज्ञान से ही कर सकता है । आध्यात्मिक ज्ञान से ही आत्मा कल्याण साधता है, साधा है और साधेगा । अतः सक्रिय ज्ञान की आराधना करो । इसी में कल्याण है । ज्ञानपचमी की आराधना शास्त्र को धूप देने से नहीं होती । ज्ञानोपार्जन करना और उपार्जित ज्ञान को सक्रिय रूप देना ही ज्ञानपचमी की सच्ची

आराधना है । ज्ञान की आराधना द्वारा ज्ञानपंचमी की आराधना करने में ही आत्मकल्याण है । ज्ञान आत्मा का प्रकाश है । यह प्रकाश जितना अधिक प्रकाशित करोगे, आत्मा उतना ही अधिक प्रकाशित होगा ।

धर्मदेशना का फल प्रकट करते हुए आगे कहा गया है—  
जीवे आगमिसस्स भद्दत्ताए कम्म निबंघइ ।

अर्थात्—धर्मदेशना देने से जीव को आगामीकाल में प्राप्त होने वाला कल्याण प्राप्त होता है । अर्थात् धर्मदेशना से भविष्य में कल्याण होता है ।

ऊपर के पाठ में 'भद्दत्ता' शब्द आया है । इस 'भद्दत्ता' के बदले 'भद्द' शब्द ही लिखा गया होता तो क्या हर्ज था ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कहा गया है—व्याकरण के नियमानुसार यह भाववाची शब्द है । उसे भाषासौन्दर्य के लिए भाववाचक प्रत्यय लगा दिया गया है ।

आने वाला काल आगामीकाल कहलाता है । और जो आगामीकाल है वह वर्तमान में आता है । आगामीकाल की कभी समाप्ति नहीं होती इस प्रकार भविष्यकाल आगामीकाल कहा जाता है । धर्मदेशना देने से आगामीकाल में आत्मा का कल्याण होता है ।

जैसे काल का अन्त नहीं है वैसे ही आत्मा का भी अन्त नहीं है यह बात जानते हुए भी दो दिन टिकने वाली चीज के लिए तो प्रयत्न करना और जिसका कभी अन्त नहीं, उस आत्मा के लिए कुछ भी प्रयत्न न करना

कितनी गभीर भूल है ? कहा जा सकता है कि आत्मा के लिए हमें क्या करना चाहिए । इसका समाधान यह है कि शास्त्रों में कहा है—‘सर्वे जीवा सुहृदिच्छन्ति ।’ अर्थात् सभी जीव सुख चाहते हैं यह मानकर सब जीवों का कल्याण करो । कोई भी काम ऐसा न करो जिससे किसी जीव का अकल्याण हो ।

ससार का प्रत्येक पदार्थ, जो एक प्रकार से कल्याणकारी माना जाता है, दूसरे प्रकार से अकल्याणकारी साबित होता है । मगर धर्मदेशना एक ऐसी वस्तु है जो एकान्त कल्याणकारिणी है । अतएव सासारिक पदार्थों के मोह में न पड़ते हुए धर्मदेशना को अपनाओ और जीवन में उतारकर आत्मा का कल्याण साधो ।

धर्मदेशना का फल बतलाते हुए जो कुछ कहा गया है, उसमें ‘अनवरत’ शब्द आया है । अनवरत का अर्थ—‘निरन्तर’ है । अतः यहाँ यह कहा गया है कि धर्मदेशना से निरन्तर कल्याणरूप कर्म का बंध होता है ।

प्रश्न उपस्थित होता है कि किये हुए कर्म तो भोगने ही पड़ते हैं, फिर यहाँ निरन्तर शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जीव पुण्यानुबन्धी कर्म बाँधता है और उसका ज्यो ही श्रान्त आता है त्यों ही दूसरे पुण्यानुबन्धी कर्म का बन्ध हो जाता है । इस प्रकार धर्मदेशना से जीव निरन्तर भद्र कल्याणकारी कर्म का बन्ध करता है । इसी कारण यहाँ निरन्तर (अनवरत) शब्द का प्रयोग किया गया है । जैसे मुर्गी और उसके अंडे में से किसी को पहले नहीं कह सकते । दोनों का अविनाभाव

सम्बन्ध है । अर्थात् उसमें यह क्रम नहीं है कि पहले मुर्गी, फिर अडा, या पहले अडा फिर मुर्गी । दोनों में अविनाशभाव सम्बन्ध है । इसी प्रकार धर्मदेशना से पुण्यानुबन्धी कर्म का बन्ध होता रहता है, जिससे कि एक से दूसरे पुण्य का क्रम चलता रहता है । पुण्य से पुण्य होने में अन्तर नहीं पड़ता । जैसे एक दीपक से दूसरा दीपक और दूसरे दीपक से तीसरा प्रकट होता है, उसी प्रकार एक पुण्यानुबन्धी से दूसरा और दूसरे पुण्यानुबन्धी से तीसरा पुण्यानुबन्धी कर्म का बन्ध होता ही रहता है । उसमें अन्तर नहीं पड़ता । इसलिए कहा गया है कि धर्मदेशना से निरन्तर पुण्यानुबन्धी पुण्य का बन्ध होता है ।

यहा एक प्रश्न और उपस्थित होता है । वह यह कि धर्मदेशना से यदि निर्जरा होती है तो फिर शुभानुबन्धी फल का मिलना क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि धर्मदेशना से निर्जरा भी होती है और शुभ कर्म का बन्ध भी होता है । अर्थात् जो कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं, उन कर्मों में किसी प्रकार का बन्ध नहीं होता, पर जो कर्म शेष रहते हैं, उनमें से शुभ कर्मों का ही बन्ध होता है । इस प्रकार धर्मदेशना का फल निर्जरा होने के साथ ही शुभ कर्मों का बन्ध होना भी है ।

वाचना, पृच्छना, परावर्त्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, यह स्वाध्याय के पाच भेद हैं । पाच प्रकार के स्वाध्याय से सूत्र की आराधना होती है । सूत्र की आराधना के विषय में अगले बोल में विचार किया जायेगा ।



# चौवीसवाँ बोल

## श्रुत की आराधना



पहले बतलाया जा चुका है कि पाच प्रकार का स्वाध्याय करने से श्रुत की आराधना होती है । यहा श्रुत की आराधना पर विचार किया जाता है ।

### मूलपाठ

प्रश्न— सुयस्स आराहणाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ-?

उत्तर— सुयस्स आराहणाए णं अस्माण खवेइ, न य सकिलिस्सइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! श्रुत की आराधना से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— श्रुत की आराधना से अज्ञान दूर होता है और उससे जीव को संक्लेश नही होता ?



## व्याख्यान

शास्त्र का सम्यक् प्रकार से सेवन करना श्रुत की आराधना है । वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा, इस प्रकार पाच तरह का स्वाध्याय करने से सूत्र की आराधना होती है और सूत्र की आराधना से अज्ञान नष्ट होता है । जिस वस्तु का पहले ज्ञान नहीं होता, सूत्र की आराधना से उसका ज्ञान हो जाता है । किसी बात का ज्ञान न होना उसका अज्ञान है । सूत्र की आराधना से इस प्रकार का अज्ञान दूर हो जाता है । अज्ञान का नाश हो जाता है, इसका प्रमाण यह है कि सूत्र की आराधना से विशिष्ट बोध उत्पन्न होता है । भगवान कहते हैं— इस प्रकार की सूत्र आराधना से एक तो अज्ञान का नाश होता है और दूसरे संक्लेश उत्पन्न नहीं होता । तत्त्वज्ञान होने पर राग-द्वेष रूप संक्लेश टिक भी नहीं सकता ।

यों तो ससार असार कहलाता है पर ज्ञानीजन इस असार कहे जाने वाले ससार में से ही सम्यक् सार खोज निकालते हैं । अगर संसार एकान्त रूप से असार होता और उसमें किंचित् भी सार न होता तो जीव मोक्ष कैसे प्राप्त कर पाते ? सूत्र की आराधना करने से अज्ञान नष्ट होता है और अज्ञान के नाश से ससार में से सार निकाला जा सकता है । इस प्रकार तत्त्व का बोध होने से किसी प्रकार का संक्लेश नहीं होता और संक्लेश न होने से वैराग्य की उत्पत्ति होती है । अज्ञान का नाश होना, तत्त्व का बोध होना, संक्लेश पैदा न होना और वैराग्य की उत्पत्ति होना, यह सब सूत्र की आराधना का ही फल है । सूत्र की आराधना

का फल बतलाते हुए एक सग्रहगाथा में कहा गया है—

जह जस सुयमवगाहइ अइसरससजुयमपुव्वं ।

तह तह पल्हाइ मुणी नव नव सवेगसद्धाए ॥

अर्थात्—मुनि ज्यो-ज्यो श्रुत में अवगाहन करता जाता है, त्यो-त्यो उस मुनि को सवेग श्रद्धा में अपूर्व अपूर्व आह्लाद प्राप्त होता है ।

श्रुत की सूत्र में, अर्थ से सूत्रार्थ से ज्यो ज्यो आराधना की जाती है त्यो त्यो अपूर्व भावों की उत्पत्ति होती है । श्रीभगवत्सूत्र का अनेक महात्माओं ने अनेक बार अध्ययन किया पर अन्त में उन्हें यही कहना पड़ा कि—‘हे भगवती ! मैं तुझमें ज्यो-ज्यो अवगाहन करता हूँ, त्यो-त्यो मुझे अपूर्व ही भाव मालूम होता है, इसलिए मैं तुझे नमस्कार करता हूँ ।’

श्रुत की आराधना करने से नवीन नवीन भाव किस प्रकार प्रकट होता है; यह बात यों समझो । मान लो, तुम किसी समुद्र के किनारे फिरने गये हो । समुद्र के किनारे ठडी हवा बह रही है । तुम समुद्र के जितने नजदीक जाओगे, उतनी ही अधिक ठडी हवा मालूम होगी । अगर समुद्र में स्नान करने के लिए घुमोगे तो और भी अधिक ठंड लगेगी । कदाचित् तुमने समुद्र में गहरा गोता लगाया तो वह गहरा मालूम होगा, अधिक ठंड भी मालूम होगी पर संभव है समुद्र की गहराई में से तुम्हें किसी वस्तु की प्राप्ति भी हो जाय । मोती तो गहरे पानी में डुबकी मारने से ही मिलते हैं । इसी प्रकार जो पुरुष सूत्ररूपी समुद्र के जितना सन्निकट जाएगा, उसे उतना ही अधिक लाभ होगा ।

जो श्रुत समुद्र में डुबकी मारेगा उसे तो तत्त्व रूपी मोती भी अधिकाधिक प्राप्त होंगे ।

तुमने दूसरे अनेक रंगों का आस्वादन किया होगा, मगर एक बार शास्त्रों के रस को भी तो चख देखो ! शास्त्र का रस कैसा है ? शास्त्र का रस चखने के बाद तुम्हें ससार के सभी रस फीके जान पड़ेंगे । शास्त्र को ऊपर-ऊपर से मत देखो । अगर कोई पुरुष मुँह में मोती डालकर उसका मिठास चखना चाहे तो उसे क्या उचित कहा जायेगा ? और चखने पर जिस मोती में मिठास मालूम हो वह सच्चा है ? नहीं । इसी प्रकार सूत्ररूपी मोती को ऊपर-ऊपर से मत चखो । सूत्र सुनकर उसे अपने जीवन में उतारो तो तुम्हारा मानव-जीवन सार्थक हो जायेगा । सूत्र की आराधना करने से आत्मा का कल्याण अवश्य होता है । सूत्र की आराधना करना मानव-जीवन को सार्थक करने की जड़ी वूटी है । अतः सूत्र की आराधना करके जीवन सफल करोगे तो कल्याण होगा ।

रागादि भाव के कारण आत्मा में किस प्रकार सकलेश उत्पन्न होता है, यह बात सरल करके समझाता हूँ । जो पुरुष जिस वस्तु को अपनी समझता है, उसे उसके प्रति राग होता है । इस अवस्था में अगर उस वस्तु को कोई छीन ले या उसे हानि पहुँचाए तो ऐसा करने वाले के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है । अगर किसी भी वस्तु को अपनी न मानी हो तो उसके प्रति राग भी न होगा और उसे छीनने या नष्ट करने वाले पर द्वेष भी न होगा । इस प्रकार राग-द्वेष न होने के कारण सकलेश भी उत्पन्न न होगा । वस्तु

## ४६-सम्यक्त्वपराक्रम (३)

यों जब आत्मीयता का भाव उत्पन्न होता है तभी उसके कारण राग-द्वेष होता है । राग-द्वेष होने से आत्मा को संक्लेश होना स्वाभाविक है । श्रुत की आराधना करने से वस्तु सम्बन्धी राग-द्वेष मूलक मोह नष्ट हो जाता है और राग-द्वेष नष्ट हो जाने से आत्मा को संक्लेश नहीं होता, बल्कि वैराग्य पैदा होता है । इस प्रकार सूत्र की आराधना का महत्व बहुत अधिक है ।



# पच्चीसवां बोल

## मनसिक एकाग्रता

---

शास्त्र का कथन है कि सूत्र की आराधना के लिए मन का एकाग्र होना आवश्यक है । जब तक मन एकाग्र नहीं होता तब तक सूत्र की आराधना नहीं हो सकती । अतएव मन की एकाग्रता के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है । मूलपाठ इस प्रकार है:—

### मूलपाठ

प्रश्न—पगग्गमणसंनिवेशणयाए णं भंते ! जीव किं जणयइ ?

उत्तर एगग्गमणसंनिवेशणयाए णं चित्तनिरोहं करेइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! मन को एकाग्र करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—मन को एकाग्र करने से जीव चित्त का निरोध करता है ।

## व्याख्यान

मन की एकाग्रता के विषय में विचार करने के लिए मन क्या है, यह जान लेना आवश्यक है । मन दो प्रकार के है (१) द्रव्य मन और (२) भाव मन 'मन्यते अनेन, इति मनः' । इस व्याख्यान के अनुसार जिसके द्वारा मनन किया जाय उसे मन कहते हैं । इसके सिवाय 'मनन मनः' अर्थात् मनन करना भी मन कहलाता है । तात्पर्य यह है कि आत्मा अपने मे जिन विशेष पुद्गलो का सचय करता है और जिन पुद्गलो के समूह से आत्मा में मनन करने की शक्ति आती है, उन पुद्गलो का समूह मन कहलाता है । द्रव्य मन से द्रव्य मनन होता है और भाव मन से भाव मनन होता है ।

जो वस्तु देखी मुनी जाती है, उसके विषय मे मन हो किसी प्रकार का विचार करता है । उदाहरणार्थ-आँख खम्भे को देखती है, पर यदि मन न हो तो 'यह खम्भा है' यह बात जानी नहीं जा सकती । इस प्रकार वस्तु को देखने पर भी, अगर देखने के साथ मन न हो तो 'यह अमुक वस्तु है' इस प्रकार ज्ञान नहीं हो सकता । अनेक बार हम अनेक वस्तुएँ देखते हैं, लेकिन उस देखने के साथ अगर मन नहीं होता तो वह वस्तुएँ ध्यान मे नहीं आती अर्थात् उनका ज्ञान नहीं होता । इस तरह जिसकी सहायता से वस्तु जानी जाय और जानी हुई वस्तु के विषय मे कल्पना करके मनन किया जा सके, उसे मन कहते हैं ।

द्रव्य मन और भाव मन सजी जीव को ही होता है । असजी जीव के भी मन तो होता है, मगर उसके भाव मन

ही होता है, द्रव्य मन नहीं। इस कारण असजी जीव किसी वस्तु पर विचार नहीं कर सकते। अघे के सामने दर्पण रख दिया जाये तो दर्पण में अघे का प्रतिविम्ब तो पड़ता है मगर अघा उस प्रतिविम्ब को देख नहीं सकता, क्योंकि उसके पास देखने का साधन नहीं है। इसी प्रकार असजी जीव को भाव मन तो होता है पर द्रव्य मन नहीं होता। इस कारण अमसी जीव वस्तु सामने होने पर भी उसके संबन्ध में कुछ विचार नहीं कर सकते। जब भाव मन के साथ द्रव्य मन होता है तभी वस्तु के विषय में विचार किया जा सकता है।

मन और चित्त पर्यायवाची शब्द है। भगवान् ने कहा है—मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है।

प्रश्न खड़ा होता है—मन को किस प्रकार वश में किया जाये और किस प्रकार एकाग्र रखा जाये? आँखें बंद करके वश में की जा सकती है, नाक को दबा कर वश में किया जा सकता है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियो को भी अकुश द्वारा वश में किया जा सकता है। मगर मन किस प्रकार वश में किया जाये? वह एक विकट प्रश्न है। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारण बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मन ही मनुष्यो के बन्ध और मोक्ष का कारण है।

मन का सकल्प-विकल्प कैसा होता है, यह बात सभी जानते हैं। मनुष्य हो या पशु, जिसके मन है, उनका मन सकल्प-विकल्प करता ही रहता है। अच्छे या बुरे काम

मन के सकल्प-विकल्प से हो होते हैं । बिल्ली उन्हीं दातों से अपने वन्चों को दबाती है और उन्हीं से चूहे से को दबाती है । दात तो वही है मगर मन के सकल्प-विकल्प से अन्तर पड जाने से वस्तु में भी अन्तर पड जाता है ।

मन में यह जो अन्तर रहता है, उसका कारण मन की चंचलता है । जब मन को चंचलता दूर हो जाये और मन में किसी प्रकार का भेदभाव न रहे तब समझना चाहिए कि मन वश में हो गया है । जब तक मन में भेदभाव बना रहे तब तक मन वश में नहीं हुआ है ।

कहा जा सकता है कि चित्त की चंचलता दूर करना और मन में तनिक भी भेदभाव न आने देना तो बहुत ही कठिन कार्य है । सब साधु भी इतना कठिन कार्य नहीं कर सकते तो गृहस्थ मन को कैसे वश कर सकते हैं ?

इसका उत्तर यह है कि इस सम्बन्ध में साधु या गृहस्थ का कोई प्रश्न ही नहीं है । जो कोई मनुष्य अभ्यास और वैराग्य को जीवन में उतारता है, वही मन को वश कर सकता है । मन को वश करने के अभ्यास और वैराग्य यही दो उपाय हैं । मन को वश में लाने का अभ्यास किस प्रकार करना चाहिए, यह विचार बहुत लम्बा है । योगक्रिया का समावेश इसी अभ्यास में होता है । इस सम्बन्ध में टीकाकार कहते हैं कि मन को अप्रशस्त में जाने से रोक कर प्रशस्त में पिरो देने से धीरे-धीरे मन एकाग्र हो जायेगा । अर्थात् एक ओर से तो मन को अप्रशस्त में जाने से रोकें और दूसरी ओर उसे परमात्मा के ध्यान में पिरोते जाएँ तो मन वश में किया जा सकेगा और उसकी एकाग्रता भी



साधी जा सकेगी ।

मन को वश में करने के लिए वैराग्य भी एक उपाय है । इन्द्रियो का समूह बलवान होने के कारण मन को अपनी ओर खींचता रहता है । अतः पदार्थों के प्रति विरक्तिभाव रखना उचित है । विरक्ति होने से इन्द्रियाँ उन पदार्थों की ओर नहीं खिंचेंगी और नव मन भी उनकी ओर नहीं जाएगा और स्थिर रहेगा । वस्तु के वास्तविक स्वरूप का विचार करके उसके प्रति वैराग्य रखना चाहिए । वैराग्य धारण करने से मन भी स्थिर रहेगा । वस्तु के असली स्वरूप का विचार न करने के कारण ही वस्तु के प्रति राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है । वस्तु का वास्तविक स्वरूप विचारा जाये तो वैराग्य पैदा हुए बिना नहीं रह सकता और मन भी वश में किया जा सकता है । इस प्रकार मन को वश में करने का और एकाग्र करने का उपाय अभ्यास और वैराग्य है । अभ्यास और वैराग्य से ही मन पर काबू किया जा सकता है ।

लोगों को रुपये के प्रति बहुत ममता है । मगर रुपया क्या है, किस प्रकार प्राप्त किया जाता है और रुपये के प्रचलन से समाज और देश की आन्तरिक स्थिति को कितनी अधिक हानि पहुँची है, इन बातों पर पूरा विचार किया जाये तो रुपये के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुए बिना नहीं रहेगा । सिक्के का जितना अधिक प्रचार हुआ, उतने ही अधिक अनर्थ बढ़े हैं । सिक्के के लिए ही पशुवध किया जाता है । फूँक का घातक प्रयोग करके गाय के आचल में से दूध काढने का पापपूर्ण कार्य भी रुपये के लिए ही

किया जाता है । इस प्रकार रुपये से होने वाले अनर्थों का विचार किया जाये तो रुपये के प्रति वैराग्य होगा ही ।

बड़े-बड़े शहरो मे कुलागनाएँ वेश्या बन कर अपना शरीर दूसरों को किसलिए सौगतो हैं ? केवल पैसे के लिए । उन्हें पैसे पर ममता न होती तो गायद देव भी उन्हें विचलित न कर सकते । पैसा ही उनका सतीत्व नष्ट कराता है । भाई-भाई और पिता-पुत्र के बीच पैसे के कारण तकरार होती है । राजा लोग भी प्रजा के कल्याण के लिए राज्य नहीं चलाते, वरन् पैसे के लिए ही राज्य चलाते हैं ।

इस प्रकार पैसे के कारण होने वाले अनर्थों का विचार करने से उसके प्रति वैराग्य होगा ही । अनर्थ उत्पन्न करने वाला और राग-द्वेष की वृद्धि करने वाला कनक और कामनी ही है । कनक और कामनी के कारण होने वाले अनर्थों का विचार करने से गृहस्थ को भी वैराग्य हो सकता है । इस तरह मन को वश करने के विषय मे साधु और गृहस्थ वा कोई भेदभाव बाधक नहीं हो सकता । कोई भी क्यों न हो, अभ्यास और वैराग्य द्वारा अगर वह मन को वश करना चाहता है तो अवश्य कर सकता है ।

मन की एकाग्रता से चित्त का निरोध होता है । चित्त का निरोध तो मन की एकाग्रता का परम्परा फल है । मन की एकाग्रता का साक्षात् फल यह है कि एकाग्र मन वाला जो कुछ भी बोलता है, सत्य ही बोलता है और जो मनोरथ करता है वह पूर्ण ही होता है । मानसिक एकाग्रता से ही अमोघ भाषण और मनोरथ की पूर्ति होती है । अतः मन को एकाग्र करो । मन को एकाग्र करने के लिए मैं

बारम्बार यही कहता हूँ कि परमात्मा का भजन करो । परमात्मा के भजन से मन एकाग्र होगा । दूसरे कामों से मन हटा कर परमात्मा के भजन में ही मन पिरो दो । परमात्मा के भजन का सहारा लेकर मन को एकाग्र करने से चित्त की चंचलता दूर होगी । इसलिए परमात्मा का भजन करने में देरी मत करो । कहा भी है—

दम पर दम हरि भज, नहीं भरोसा दम का,  
एक दम में निकल जावेगा दम आदम का ।  
दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू,  
एक नाम साँई का जप हिरदे में धर तू ॥  
नर ! इसी नाम से तू जा भवसागर पू,  
दम आवे न आवे इसकी आश मत कर तू ॥

श्वास का विश्वास नहीं । श्वास तो वायु है । कदाचित् आवे, कदाचित् न भी आवे । इसका क्या भरोसा ! इसलिए मुख में से श्वास निकलने के पहले ही परमात्मा का भजन करो । इस प्रकार परमात्मा का भजन करने से मन एकाग्र होगा ।

आत्मा एक बड़ी भूल कर रहा है । वह यह कि तुच्छ चीजों में मन का प्रयोग करके आत्मा, परमात्मा को भूल रहा है । वह इतना भी तो नहीं सोचता कि मेरा मन परमात्मा में एकाग्र हो जायेगा तो उस दशा में मुझे तुच्छ वस्तुओं की क्या कमी रह जायेगी । इस प्रकार विचार न करके आत्मा अपने मन को इधर-उधर दौड़ाया करता है । यही मन की चंचलता है । इस चंचलता को दूर करने के लिए ही शास्त्रकार मन की एकाग्रता की आवश्यकता बत-



# छुब्बीसवां बोल

## संयम

जिमका मन एकाग्र होता है उन्ही को संयम शोभा-  
यमान होता है और जिनमे संयम है उन्ही के मन की एका-  
ग्रता सार्थक होती है । अतः संयम के विषय में भगवान् से  
प्रश्न किया गया है :—

### मूलपाठ

प्रश्न संजमेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर - संजमेण अणणहयत्तं जणयइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! संयम से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर - संयम से अनाहतपन ( अनाश्रव-आते हुए  
कर्मों का निरोध ) प्राप्त होता है ।

### व्याख्यान

संयम के विषय में भगवान् ने जो उत्तर दिया है,  
उस पर विचार करने से पहले यह देखना चाहिए कि संयम  
क्या है ?

## ५६-सम्यक्त्वपराक्रम (३)

शास्त्र में सयम के विषय में विस्तृत विवेचन किया गया है । उस सब का यहाँ विवेचन किया जाये तो बहुत अधिक विस्तार होगा । अतएव सयम के विषय में यहाँ संक्षेप में ही विवेचन किया जायेगा ।

आजकल सयम शब्द पारिभाषिक बन गया है । मगर विचार करने से मालूम होगा कि सयम का अर्थ बहुत विस्तृत है । शास्त्र में सयम के सत्तरह भेद बतलाये गये हैं । इन भेदों में सयम के सभी अर्थों का समावेश हो जाता है । सयम के सत्तरह भेद दो प्रकार से बतलाये गये हैं । पाँच आस्रवों को रोकना, पाँच इन्द्रियों को जीतना, चार कषायों का क्षय करना और मन, वचन तथा काय के योग का निरोध करना, यह सत्तरह प्रकार का संयम है ।

दूसरी तरह से निम्नलिखित सत्तरह भेद होते हैं —  
(१) पृथ्वीकाय सयम (२) अपकाय सयम (३) वायुकाय सयम (४) तेजकाय सयम (५) वनस्पतिकाय सयम (६) द्वीन्द्रियकाय सयम (७) त्रीन्द्रियकाय सयम (८) चतुरिन्द्रियकाय सयम (९) पचेन्द्रियकाय सयम (१०) अजीवकाय सयम (११) प्रेक्षा सयम (१२) उपेक्षा सयम (१३) प्रमार्जना संयम (१४) परिस्थापना सयम (१५) मन सयम (१६) वचन सयम (१७) काय सयम । इस तरह दो प्रकार से सयम के सत्तरह भेद हैं । सयम का विस्तारपूर्वक विचार करने में सभी शास्त्र उसके अन्तर्गत हो जाते हैं ।

जीवन भर के लिए पाँच आस्रवों से, तीन करण और तीन योग द्वारा निवृत्त होना सयम स्वीकार करना कहलाता है । किसी भी प्राणी की हिंसा न करना, असत्य न बोलना,

मालिक की आज्ञा बिना कोई भी वस्तु ग्रहण न करना, ससार की समस्त स्त्रियो को माना-ब्रह्मिन के समान सम्भक्तता और भगवान् की आज्ञा के अनुसार ही धर्मोपकरण रखने के सिवाय कोई परिग्रह न रखना, इस प्रकार पाँच आस्रवो से निवृत्त होना और पाँच महाव्रतो का पालन करना और पाँच इन्द्रियो का दमन करना । पाँच इन्द्रियो को दमन करने का अर्थ यह नहीं है कि आख वन्द कर लेना या कान में शब्द ही न पडने देना । ऐसा करना इन्द्रियो का निरोध नहीं है । बल्कि इन्द्रियो को विषयो की ओर जाने ही न देना इन्द्रियनिरोध कहलाता है । प्रत्येक इन्द्रिय का उपयोग करते समय ज्ञानदृष्टि से विचार कर लिया जाये तो अनेक अनर्थों से बचा जा सकता है ।

जब तुम्हारे कान में कोई शब्द पडता है तो तुम्हें सोचना चाहिए - मेरा कान मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, वगैरह प्राप्त करने का साधन है । अतएव मेरे कान में जो शब्द पडे हैं वे मेरा अज्ञान बढ़ाने वाले न हो जाए, यह बात मुझे खयाल में रखनी चाहिए । जब तुम्हारे कान में कटुक शब्द टकरते हैं तब तुम्हारा हृदय काँप उठता है । मगर उस समय ऐसा विचार कर निश्चल रहना चाहिए कि यह तो मेरे धर्म की कमीटी है । यह कटुक शब्द शिक्षा देते हैं कि समभाव धारण करने से ही धर्म की रक्षा होगी । अतएव कटुक शब्दों को धर्म पर स्थिर करने में सहायक मानकर समभाव सीखना चाहिए ।

इसी प्रकार कोई मनुष्य तुम्हें लम्पट या ठग कहे तो तुम्हें सोचना चाहिए कि मैं एकेन्द्रिय होता तो क्या मुझे यह

शब्द सुनने को मिलते ? और उस अवस्था में कोई मुझे यह शब्द कहता ? कदाचित् कोई कहता भी तो मैं उन्हें समझ ही न सकता । अब जब मुझे समझने योग्य इन्द्रियाँ प्राप्त हुई हैं तो इस प्रकार के शब्द सुनकर मेरा क्या कर्तव्य होता है ? वह मुझे लम्पट और ठग कहता है । मुझे सोचना चाहिए कि क्या मुझमें ये दुर्गुण हैं ? अगर मुझमें यह दुर्गुण है तो मुझे दूर कर देना चाहिए । वह बेचारा गलत नहीं कह रहा है । विचार करने पर उक्त दुर्गुण अपने में दिखाई न दे तो सोचना चाहिए हे आत्मा ! क्या तू इतना कायर है कि इस प्रकार के कठोर शब्दों को भी नहीं सहन कर सकता ? कठोर शब्द सुनने जितनी भी सहिष्णुता तुझमें नहीं है ! यह कायरता तुझे शोभा नहीं देती । जो व्यक्ति अपशब्द कहता है उसे भी चतुर समझ । वह भी अपशब्दों को खराब मानता है । इस प्रकार तेरा और उसका ध्येय एक है । इस प्रकार विचार करके अपशब्द सुनकर भ' जो स्थिर रहता है, उसी ने श्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है ।

इसी प्रकार सुन्दरी स्त्री का रूप देखकर ज्ञानीजन विचार करते हैं इस स्त्री को पूर्वकृत पुण्य के उदय से ही यह सुन्दर रूप मिला है । अपने सुन्दर रूप द्वारा यह स्त्री मुझे शिक्षा दे रही है कि अगर तू पुण्य का सचय करेगा तो सुन्दरता प्रदान करने वाले पुद्गल तेरे दास बन जाएंगे ।

किसी सुन्दर महल को देखकर भी यह सोचना चाहिए कि यह महल पुण्य के प्रताप से ही बना है । मेरे लिए यही उचित है कि मैं इस महल की ओर दृष्टि ही न डालूँ । फिर भी उस पर अगर मेरी नजर जा ही पड़ती है तो मुझे



मानना चाहिए कि यह महल किसी के मस्तिष्क की ही उपज है । मस्तिष्क से यह महल बना है, लेकिन यदि मस्तिष्क ही बिगड़ जाये तो कितनी बड़ी खराबी होगी ? तो फिर सुन्दर मङ्गल देखकर मैं अपना दिमाग क्यों बिगाड़ूँ ? अगर मैंने अपना मन और मस्तिष्क स्वच्छ रखकर समय का पालन किया तो मेरे लिए देवों के महल भी तुच्छ बन जाएँगे ।

महाभारत में व्यास को भौंण्डो और युधिष्ठिर के महल की तुलना का गई है और युधिष्ठिर के महल से व्यास की भौंण्डो अधिक अच्छी बतलाई गई है । इसका कारण यह है कि जहाँ निवास करके आत्मा अपना कल्याण-साधन कर सके वही स्थान ऊँचा है और जहाँ रहने से आत्मा का अकल्याण हो वह स्थान नीचा है । जहाँ रहने से भावना उन्नत रहे वह स्थान ऊँचा है और जहाँ रहने से भावना नीची हो जाये वह स्थान नीचा है । अगर तुम इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा विवेक जागृत हो जायेगा ।

गुरु के प्रताप से हम लोग सहज ही अनेक पापों से बचे हुए हैं । जो श्रावक अपना श्रावकपन पालन करता है वह भी पहले देवलोक से नीचे नहीं जाता । मगर एक-एक पाई के लिए भी झूठ बोलना कोई श्रावकपन नहीं है । क्या मैं तुमसे यह आशा रखूँ कि तुम असत्य भाषण न करोगे ? अगर कोई यह कहता है कि झूठ बोले बिना काम नहीं चलता तो उससे कहना चाहिए कि असत्य के बिना काम नहीं चलता होता तो तीर्थङ्कर भगवान् ने असत्य बोलने का निषेध क्यों किया होता ? क्या वे इतना भी नहीं सम-

भूते थे ? वास्तव में यह समझ ही भ्रमपूर्ण है । इस भूल को भूल मान कर असत्य का त्याग करो और सत्य का पालन करो । सत्य की आराधना करने में कदाचित् कोई कष्ट आ पड़े तो उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सहो मगर सत्य पर अटल रहो । क्या हरिश्चन्द्र ने सत्य का पालन करने में आये हुए कष्ट सहने में आनन्द नहीं माना था ? फिर आज सत्य का पालन करने में आये हुए कष्टों से क्यों घबराते हो ? आज लोग व्यवहार साधने में ही लगे रहते हैं और समझ बैठे हैं कि अमृत्य के बिना हमारा व्यवहार चल ही नहीं सकता । मगर यह मानना गम्भीर भूल है । दरअमल तो सत्य के आचरण से ही व्यवहार सरल बनता है । अमृत्य के आचरण से व्यवहार में वक्रता आ जाती है । भगवान् ने सत्य का महत्व बतलाते हुए यहाँ तक कहा है कि 'त सच्च खु भयव ।' अर्थात् सत्य ही भगवान् है । ऐसी दशा में सत्य की उपेक्षा करना कहा तक उचित है ? सत्य पर अटल विश्वास रखने से तुम्हारा कोई भी कार्य नहीं अटक सकता और न कोई किसी प्रकार की हानि पहुँचा सकता है ।

कहने का आशय यह है कि इन्द्रियो को और मन को वश में करने के साथ व्यवहार की रक्षा भी करनी चाहिए । निश्चय का ही आश्रय करके व्यवहार को त्याग देना उचित नहीं है । केवली भगवान् भी इसलिए परिषद् सहन करते हैं कि हमें देखकर दूसरे लोग भी परिषद् सहने की सहिष्णुता सीखें । इस प्रकार केवली को भी 'व्यवहार की रक्षा करना चाहिए' ऐसा प्रकट करते हैं । अतएव केवल निश्चय को ही पकड़ कर नहीं बैठा रहना चाहिए ।

इन्द्रियों और मन को वश में करने के साथ चार कपायों को भी जीतना चाहिए और मन, वचन तथा काय के योग को भी रोकना चाहिए । यह सत्तरह प्रकार का सयम है ।

इस तरह सत्तर तरह के सयम का पालन करने वाले का मन एकाग्र हो जाता है । जिसका मन एकाग्र नहीं रहता वह इस प्रकार के उत्कृष्ट सयम का पालन नहीं कर सकता । शास्त्र में कहा है

अच्छदा जे न भुंजन्ति न से चाइत्ति दुच्चइ ।

— दशवैकालिकसूत्र

अर्थात्—जो मनुष्य पदार्थ न मिलने के कारण उनका उपभोग नहीं कर सकता, फिर भी जिसका मन उन पदार्थों की ओर दौड़ता है, उसे उन पदार्थों का त्यागी नहीं कह सकते वह भोगी ही कहा जायेगा । इसके विपरीत जो पुरुष पदार्थ मौजूद रहने पर भी उसकी ओर अपना मन नहीं जाने देता वह उन पदार्थों का भोगी नहीं बरन् त्यागी ही कहलाता है ।

तुम इस बात का विचार करो कि हमारे अन्दर सयम है या नहीं ? अगर है तो उसका ठीक तरह पालन करते हो या नहीं ? आज बाहर के फैशन से, बाहर के भपके से और दूसरों की नकल करने से तुम्हारे सयम की कितनी हानि हो रही है, इसका विचार करके फैशन से बचो और सयम-मय जीवन बनाओ तो तुम्हारा और दूसरों का कल्याण होगा ।

सयम के फल के विषय में भगवान् ने कहा है—

सयम से जीव में अनाहतपन आता है । साधारणतया संयम का फल आश्रयरहित होना माना जाता है पर यह साक्षात् अर्थ नहीं है । सयम के साक्षात् अर्थ के विषय में टीकाकार कहते हैं सयम से जीव ऐसा फल प्राप्त करता है, जिसमें कर्म की विद्यमानता ही नहीं रहती । सयम से आश्रयरहित अवस्था प्राप्त होती है और यह अवस्था प्राप्त होने के बाद जीव निष्कर्म दशा प्राप्त कर लेता है । सूत्रसिद्धान्त बीज रूप में ही कोई बात कहते हैं । अतः उसका विस्तार करके विचार करना आवश्यक है ।

सयम का फल निष्कर्म अवस्था प्राप्त करना कहा गया है । इस पर प्रश्न उपस्थित होता है कि निष्कर्म अवस्था तो तप द्वारा प्राप्त होती है- अगर सयम से ही कर्मरहित अवस्था प्राप्त होती हो तो तप के विषय में जुदा प्रश्न क्यों किया गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वर्णन करने में एक वस्तु ही एक बार आती है । तप और सयम सबन्धी प्रश्न अलग-अलग हैं परन्तु दोनों का अर्थ तो एक ही है । चारित्र्य का अर्थ करते हुए बतलाया गया है कि चय का अर्थ 'कर्मसचय' होता है और 'रित्र' का अर्थ रिक्त करना है । अर्थात् कर्मसचय को रिक्त (खाली) करना चारित्र्य है । चारित्र्य कहो या सयम कहो, एक ही बात है । अतः चारित्र्य का फल ही सयम का फल है । चारित्र्य का फल कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना है और सयम का भी यही फल है ।

कोई कर्म पुराना होता है और कोई अनागत—आगे आने वाला—होता है । कोई ऋण पुराना होता है और कोई आगे किया जाने वाला होता है । पुराने कर्मों की तो सीमा

होती है मगर नवीन कर्म असीम होते हैं । इस कथन का एक उद्देश्य है । जो लोग कहते हैं कि सयम का फल यदि अकर्म अवस्था प्राप्त करना है तो तप का फल अलग क्यों बतलाया गया है ? यदि तप और सयम का फल एक ही है तो दोनों का अलग-अलग, प्रश्न रूप में वर्णन क्यों किया गया है ? अगर दोनों का वर्णन अलग-अलग है तो तप और सयम में क्या अन्तर है ? इन प्रश्नों का, मेरी समझ में, यह उत्तर दिया जा सकता है कि सयम आगे आने वाले कर्मों को रोकता है और तप आगत अर्थात् संचित कर्मों को नष्ट करता है । संचित कर्मों की तो सीमा होती है पर अनागत कर्मों की सीमा नहीं होती है । सयम नवीन कर्म नहीं बधने देता और पुराने कर्मों का नाश करता है । संयम असीम कर्मों को रोकता है, अतएव सयम का कार्य महान् है । इसी आधार पर यह कहा जा सकता है कि संयम से निष्कर्म अवस्था प्राप्त होती है । जो महान् कार्य करता है, उसी का पद ऊँचा माना जाता है ।

इस कथन में यह विचारणीय हो जाता है कि जो भूतकाल का खयाल नहीं करता और भविष्य का ध्यान नहीं रखता, सिर्फ वतमान के सुख में ही डूबा रहता है वह चक्कर में पड़ जाता है । अतएव प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह भूतकाल को नजर के सामने रखकर अपने भविष्य का सुधार करे । इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि पहले जो लोग युद्ध में लड़ने के लिए जाते थे और अपने प्राणों की भी बलि चढ़ा देते थे, क्या उन्हें प्राण प्यारे नहीं थे ? प्राण तो उन्हें भी प्यारे थे मगर भविष्य की प्रजा परतन्त्र न बने और कायर न हो जाये,

इसी दृष्टि से वे राजपाट छोड़कर युद्ध करने जाते थे और अपने प्राणों को तुच्छ समझते थे ।

इस व्यावहारिक उदाहरण को सागने रखकर सयम के विषय में विचार करो । जैसे योद्धागण अपने राजपाट और प्राणों की ममता त्याग कर लड़ने के लिए जाते थे और भविष्य की प्रजा के सामने पराधीनता सहन न करने का आदर्श उपस्थित करते थे, उसी प्रकार प्राचीनकाल के जो लोग राजपाट त्याग कर सयम स्वीकार करते थे, वे भी आत्मकल्याण साधने के साथ, इस आदर्श द्वारा जगत् का कल्याण करते थे । उनकी सतान साचती थी — हमारे पूर्वजों ने तृष्णा जीती थी तो हम क्यों तृष्णा में ही फसे रहे ? प्राचीनकाल के राजा या तो सयम पालन करते करते मृत्यु से भेटते थे या युद्ध करते-करते । वे घर में छटपटाते हुए नहीं मरते थे । आजकल के लोग तो घर में पड़े-पड़े, हाय-हाय करते हुए मरण के शिकार बनते हैं ऐसे कायर लोग अपना अकल्याण तो करते ही हैं, साथ ही दूसरों का भी अकल्याण करते हैं । इसीलिए शास्त्रकार उपदेश देते हैं— हे आत्मा ! तू भूत-भविष्य का विचार करने सयम को स्वीकार कर । सयम अते हुए कर्मों को रोकता है और निष्कर्म अवस्था प्राप्त कराता है ।

कोई कह सकता है कि क्या हमें सयम स्वीकार करना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि अगर पूर्ण सयम स्वीकार कर सको तो अच्छा ही है, अन्यथा ससार के प्रति जो ममता है उसे ही कम करो । इतना करोगे तो भी बहुत है । आज लोग साधन का ही साध्य मानने की भूल कर

## छब्बीसवां बोल

रहे हैं। उदाहरणार्थ—धन व्यावहारिक कार्य का एक साधन है। धन के द्वारा व्यवहारोपयोगी वस्तुएं प्राप्त की जा सकती हैं। मगर हुआ यह कि लोगो ने इस साधन को ही साध्य समझ लिया है और वह धनोपार्जन करने में ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर देते हैं। जरा विचार तो करो कि धन तुम्हारे लिए है या तुम धन के लिए हो? कहने को तो भट्ट कह दोगे कि हम धन के लिए नहीं हैं, धन हमारे लिए है। मगर कथनी के अनुकूल करनी है या नहीं? सत्र से पहले यही मोचो कि तुम कौन हो? यह विचार कर फिर यह भी विचार करो कि धन किसके लिए है? तुम रक्त, हाड या मांस नहीं हो। यह सब घातुएं तो शरीर के साथ ही भस्म होने वाली हैं। अतः धन हाड-मांस के लिए नहीं वरन् आत्मा के लिए है। यह बात भलीभांति समझकर आत्मा को धन का गुलाम मत बनाओ। यह बात समझ लेने वाला धन का गुलाम नहीं बनेगा, अपितु धन का स्वामी बनेगा। वह धन को साध्य नहीं, साधन मानकर धनोपार्जन में ही अपना जीवन समाप्त नहीं कर देगा। वह जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न भी करेगा।

अगर आप यह मानते हैं कि धन आपके लिए है, आप धन के लिए नहीं हैं तो मैं पूछता हूँ कि आप धन के लिए पाप तो नहीं करते? असत्य भाषण, विश्वासघात और पिता-पुत्र आदि के बीच क्लेश किसके लिए होते हैं? धन के लिए ही सब होता है। धन से ससार में क्लेश-कलह होना इस बात का प्रमाण है कि लोगो ने धन को साधन मानने के बदले साध्य समझ लिया है। लोगो की इस भूल

के कारण ही ससार में दुःख व्याप्त रहा है । धन को साध्य मानने के बदले साधन माना जाये और लोकहित में उसका सद्व्यय किया जाये तो कहा जा सकता है कि धन का सदुपयोग हुआ है । इसके बदले आप साधनसम्पन्न होने पर भी यदि किसी वस्त्रविहीन को ठण्ड से ठिठुरता देखकर भी और भूख-प्यास से कण्ट पाते देखकर भी उसकी सहायता नहीं करते तो इससे आपकी कृपणता ही प्रकट होती है । धन का सदुपयोग करने में हृदय की उदारता होना आवश्यक है । हृदय की उदारता के अभाव में धन का सद्व्यय नहीं हो सकता । धन तो व्यवहार का साधन मात्र है । वह साध्य नहीं है । यह बात सब को सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए । धन के प्रति जो मोह है उसका त्याग करने में ही कल्याण है । 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते' अर्थात् धन प्रमादी पुरुष की रक्षा नहीं कर सकता । शास्त्र के इस कथन को भलीभाँति समझ लेने वाला धन को कदापि साध्य नहीं समझेगा । वह धन के प्रति ममत्व का भाव भी नहीं रखेगा । धन के प्रति इस प्रकार निर्मल बनने वाला भाग्यवान् पुरुष ही सयम के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है ।

धन की भाँति शरीर को भी साधन ही समझना चाहिए । शरीर को आप अपना मानते हैं, मगर क्या हमेशा के लिए यह आपका है ? अगर नहीं, तो फिर यह आपका कैसे हुआ ? श्रीभगवतीसूत्र में कहा है — कर्मों का बन्धन अकेले आत्मा से होता है और न अकेले शरीर से ही होता है । अगर अकेले शरीर से कर्म बन्ध होता तो उसका फल आत्मा क्यों भोगता ? अगर अकेले आत्मा से बन्ध होता तो



शरीर को फल क्यों भोगना पड़ता ? आत्मा और शरीर एक दृष्टि से भिन्न-भिन्न हैं और दूसरी दृष्टि से अभिन्न भी हैं । अतएव कर्म दोनों के द्वारा कृत हैं । ऐसी स्थिति में शरीर को साधन समझ कर उसके द्वारा आत्मा का कल्याण करना चाहिए । जो शरीर को साधन समझेगा वही समय स्वीकार कर उसका फल प्राप्त कर सकेगा जिस वस्तु के प्रति ममता का त्याग कर दिया जाता है, उस वस्तु का समय करना कहलाता है । अतः बाह्य वस्तुओं के प्रति जितने परिमाण में ममता त्यागोगे, उतने ही परिमाण में आत्मा का कल्याण साध सकोगे ।

भगवान् ने समय का फल निष्कर्म अवस्था की प्राप्ति बतलाया है । कर्मरहित अवस्था प्राप्त करना अपने ही हाथ में है । समय किसी भी प्रकार दुःखप्रद नहीं वरन् आनन्दप्रद है और परलोक में भी आनन्ददायक है ।



# सत्ताईसवां बोल

तप

---

चारित्र्य अर्थात् सयम के विषय में विवेचन किया जा चुका । सयम से अनागत कर्मों का निरोध होता है — आगे आने वाले कर्म रुकते हैं । मगर जो कर्म आ चुके हैं, उनका क्षय करने के लिए क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है— पूर्व कर्मों को नष्ट करने का साधन तप है ।

लोगों को भावी रोग की इतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी वर्तमान रोग की होती है । भावी रोग तो पथ्य, आहार-विहार से भी अटक सकता है परन्तु वर्तमान रोग का निवारण करने के लिए औषध का सेवन करना पड़ता है । कर्मरूप भावी रोग को रोकने के लिए सयम की आवश्यकता है और वर्तमान कर्म-रोग को अटकाने के लिए तप की । कर्म रूपी भावी रोग के निवारण के लिए सयम पथ्य के समान है । जो रोगी पथ्य का ध्यान नहीं रखता और भावी रोग का उपाय नहीं करता उसका उपचार डाक्टर नहीं कर सकता । कल्पना कीजिए — डाक्टर रोगी को अमुक चीज न खाने के लिए कहता है, मगर प्रत्युत्तर में रोगी

कहता है कि उसे खाये बिना मेरा चल ही नहीं सकता । अब बतलाइए, ऐसे रोगी का उपचार डाक्टर क्या खाक करेगा ?

इसी प्रकार कर्मरूपी रोग को मिटाने के लिए जो व्यक्ति संयमरूपी पथ्य द्वारा, आते हुए कर्मों को नहीं रोकता बल्कि आस्रव में ही पड़ा रहना चाहता है, उस व्यक्ति के लिए वर्तमान कर्मों को नष्ट करने की दवा बतलाना व्यर्थ ही है । हा, जो भद्र पुरुष संयमरूपी पथ्य का पालन करता है और इस प्रकार आते कर्मों को अटकाता है, उसके लिए शास्त्रकारों ने सचित कर्मों को नष्ट करने की तपरूपी दवा बतलाई है ।

संयम स्वीकार करने वालों को सचित कर्मों को नाश करने के लिए तप करना आवश्यक है । अतएव अब तप के विषय में प्रश्न किया गया है. -

### मूलपाठ

प्रश्न - तवेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर - तवेण जीवे ! वोदाणं जणयइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! तप करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर - तप करने से व्यवदान अर्थात् पूर्व कर्मों का क्षय होता है ।

## व्याख्यान

तप के फल के विषय में विचार करने से पहले तप क्या है, इस बात का विचार करना आवश्यक है। तप शब्द 'तप् सतापने' धातु से बना है। जो तपाता है उसे तप कहते हैं। यह तप शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ है। मगर कोरे व्युत्पत्ति-अर्थ को जान लेने से वस्तु समझ में नहीं आ सकती। वास्तविकता समझने के लिए प्रकृति निमित्त को भी समझना चाहिए। 'जो तपाता है वह तप है। इस अर्थ के अनुसार तो अग्नि भी तप बहलाती है, क्योंकि वह भी तपाती है। अतएव यहाँ देखना है कि तप का प्रकृतिनिमित्त क्या है? प्रकृतिनिमित्त के लिए शास्त्र में कहा है—कर्मों का क्षय करने के लिए आत्मा को तपाना तप है। कर्मों के क्षय के अतिरिक्त अन्य किसी भी सासारिक कार्य के लिए किये जाने वाले तप की गणना इस तप में नहीं हो सकती। यहाँ सिर्फ उसी तप से अभिप्राय है जो कर्मों को नष्ट करने के उद्देश्य से किया जाता है।

कर्मों को भस्म करने के लिए आत्मा को तपाना तप का वास्तविक अर्थ है, पर समुच्चय रूप से इस प्रकार कह देने पर भी तप का अर्थ समझ में नहीं आ सकता। इस कारण शास्त्रकारों ने तप के छह आन्तरिक भेद और छह बाह्य भेद किये हैं। कुल बारह प्रकार का तप है। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और कायोत्सर्ग, यह तप के आभ्यान्तर छह भेद हैं तथा अनशन, ऊनोदरी, वृत्तिसंक्षेप, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसलीनता, यह छह बाह्य तप के भेद हैं।

आज तप के अर्थ में प्रायः अनशन ही समझा जाता

है और अनशन तप ही बड़ा तप समझा जाता है । शास्त्र-कारों ने भी तप में अनशन को महत्व का स्थान दिया है । अनशन तप कर्मों को नष्ट करने का भी उपाय है और शारीरिक रोगों का भी उससे नाश होता है । अमेरिका के उपवास-चिकित्सकों ने उपवास द्वारा रोगियों के ऐसे-ऐसे रोग मिटाये हैं, जिन्हें डाक्टरों ने असाध्य कह कर छोड़ दिया था । इससे भगवान् महावीर के धर्म की व्यापकता समझी जा सकती है । साम्प्रदायिक दृष्टि से भले ही कोई अपने को भगवान् महावीर का न माने परन्तु भगवान् के सिद्धान्त की दृष्टि से समस्त ससार ही भगवान् महावीर का है और सारा ससार उन्हें मानता है । अनशन तप को लाभप्रद कौन नहीं मानता ? सभी लोग और सभी धर्म अनशन को लाभप्रद समझते हैं अनशन तप से आध्यात्मिक लाभ भी होता है और शारीरिक लाभ भी होता है ।

अनशन के पश्चात् ऊनोदरी तप है । जो लोग ऊनोदरी तप का सेवन करते रहते हैं उन्हें अनशन तप करने की प्रायः आवश्यकता ही नहीं रह जाती । ऊनोदरी का अर्थ है - उदर में जितनी जगह हो उसमें कम खाना । इस प्रकार ऊनोदरी तप का अनुष्ठान करने से आध्यात्मिक लाभ भी होता है और शारीरिक लाभ भी होता है । मगर लोग तो पेट को मानो 'डिनर बॉक्स' समझ बैठे हैं । वे प्रमाण से अधिक ठूस-ठूस कर पेट भरते हैं जैसे 'लेटर बॉक्स' पत्र डालने के लिए सदैव खुला रहता है उसी प्रकार बहुत-से लोगों का मुँह पेट में भोजन ठूसने के लिए खुला रहता है । उन्हें यह विचार ही नहीं आता कि परिमाण से अधिक भोजन करने से भोजनसामग्री तो बिगड़ती ही है, साथ ही

शरीर भी बिगड़ता है । अधिक भोजन करने के लिए लोग तरह तरह की तरकारिया, आचार, चटनी, मुरब्बा वगैरह बनाने हैं । पहले के लोग चौदह नियमों का चिन्तन इसलिए करते थे और इसीलिए द्रव्यों की मर्यादा करते थे कि परिमाण से अधिक न खाया जाये । अधिक न खाने से अर्थात् कम खाने से ऊनोदरी तप भी हो जाता है और शरीर भी स्वस्थ रहता है ।

तीसरा तप वृत्तिसंक्षेप है यह तप प्रधानतः साधुओं के लिए है, मगर श्रावक यह न मोचे कि यह हमारे लिए नहीं है । साधुओं की वृत्ति भिक्षा है, श्रावकों की वृत्ति भिक्षा नहीं है । जो श्रावक पंडिमाधारी या ससारत्यागी नहीं है वह भिक्षा नहीं माग सकता । इसी प्रकार साधुओं के लिए भी कहा गया है कि श्रगर तुम भलीभांति सयम का पालन कर सकते हो तो तुम्हारी भिक्षावृत्ति है, अन्यथा पौरुषधनी भिक्षा है । जिससे सयम का पालन नहीं होता वह याचना भी नहीं कर सकता ।

प्रत्येक मनुष्य को अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना चाहिए । अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने वाले को सकट का सामना नहीं करना पड़ता । दृढ़प्रतिज्ञ पुरुष को अनायास ही कही न कही में सहायता मिल जाती है ।

नैपोलियन बोनापार्ट के विषय में मुना जाता है कि उसको माता ने उसमें कहा - अमुक कार्य के लिए मुझे इतने धन की आवश्यकता है । नैपोलियन अपनी माता का बहुत आदर करता था मगर उसके पास माता को सन्तुष्ट करने योग्य धन नहीं था । उसने सोचा - माता की आज्ञा

पालन करने की प्रतिज्ञा मैं कर चुका हूँ और इतना धन मेरे पास नहीं है। ऐसी स्थिति में प्राण त्याग देना ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार सकल्प करके वह मरने के लिए रवाना हुआ। रास्ते में उसे एक अपरिचित मनुष्य मिला। उसने नैपोलियन को एक थैली देकर कहा - 'जरा इस थैली को पकड़े रहिए, मैं पेशाब करके अभी आता हूँ।' नैपोलियन ने सोचा—'चलो, मरना तो है ही। मरने से पहले इसका भी कुछ काम कर दूँ।' यो सोचकर नैपोलियन ने थैली अपने हाथ में ले ली। वह थैली लिये उस आदमी की प्रतीक्षा करता रहा, मगर थैली वाला न जाने कहा गायब हो गया। वह वापिस लौट कर नहीं आया। नैपोलियन ने थैली खोली और देखा तो उसमें उतना ही धन था जितना उसकी माता ने उसने माँगा था।

अब इस बात पर विचार कीजिए कि नैपोलियन को वह धन कहाँ से मिला? विचार करने से यही विदित होता है कि प्रतिज्ञा के प्रताप से ही वह धन नैपोलियन को प्राप्त हो सका।

ऐसी ही एक बात उदयपुर के महाराणा के विषय में सुनी जाती है। राणा जंगल में रहते थे। उस समय बादशाह फकीर बनकर राणा के अतिथिसत्कार-प्रेम की परीक्षा लेने आया। उसने राणा के पास पहुँच कर कहा - 'मुझे चादी की धाली में, मेवा की खिचड़ी खाने के लिए दीजिए।' राणा की प्रतिज्ञा थी कि वह अपने पास आये अतिथि को निराश होकर नहीं जाने देता था। मगर जिस समय बादशाह पहुँचा, उस समय राणा के पास मुट्ठी भर अन्न का

भी ठिकाना नहीं था । ऐसी स्थिति में वह चादी के थाल में मेवा की खिचड़ी कहा से खिलाते ? राणा ने बादशाह को पहचान लिया । मगर राणा ने विचार किया - 'यह फकीर वनकर आया है और मेरा महम'न बना है । इसका सत्कार करना मेरा फर्ज है । लेकिन सत्कार किस प्रकार किया जाये ? आज मेरी प्रतिज्ञा भग होने जा रही है । प्रतिज्ञा भग होने की अपेक्षा तो मर जाना कहीं बेहतर है ।'

इस प्रकार सोच-विचार कर राणा ने फकीर से कह - 'आइए, बैठिये।' फकीर को बिठला कर आप पोछे के माग से मर जाने के लिए जंगल की ओर चल दिया । रास्ते में राणा को एक मनुष्य मिला । वह बैल पर माल लादे जा रहा था । उसने कहा - 'भाई, मुझे शौच जाना है । थोड़ी देर इस बैल को पकड़ रखो न ? मैं अभी लौट आता हूँ ।' राणा ने सोचा—मरना तो है ही, इससे पहले इसका काम कर दिया जाये तो अच्छा ही है । इस प्रकार विचार कर राणा ने बैल को पकड़ लिया । वह मनुष्य बैल को पकड़ा कर चला गया और ऐसा गया कि बहुत देर तक भी वापिस नहीं लौटा । राणा खड़े-खड़े निराश हो गये । सोचा देखूँ इस पर क्या माल लदा हुआ है ? राणा ने देखा तो उन्हें विस्मय हुआ । उस पर चादी की थालियाँ और मेवा लदा था । राणा ने वह सब सामान लाकर फकीर का अतिथि-सत्कार किया ।

तात्पर्य यह है कि जो दृढप्रतिज्ञ होता है उसे किसी न किसी प्रकार से अनायास सहायता मिल जाती है । साधुओं को भी अपनी सयम पालने की प्रतिज्ञा पर दृढ रहना



च हिए । मयम पालन के साथ हो भिक्षावृत्ति स्वीकार करना उचित है ।

श्रावको को भी वृत्तिमय तप का पालन करना चाहिए । उन्हें अपनी वृत्ति में अधर्म न पढ़ने देने का सतत ध्यान रखना चाहिए और प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहना चाहिए । ऐसा करने से कार्य भी सफल होगा और मकटो से भी वचाव होगा । इसी प्रकार अन्य तपो का स्वरूप शास्त्र के अनुसार समझ कर यथाशक्ति उनका अनुष्ठान करना चाहिए ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तपो में अनशन तप प्रधान है चाहे अनशन तप हो चाहे ऊनोदरी हो, वह कर्मों को नष्ट करने के लिए ही होना चाहिए । आजकल अनशन रोग नष्ट करने का भी एक साधन माना जाता है । इस प्रकार अनशन भले ही व्यावहारिक तप कहलाएगा पर एमे अनशन की गणना तप में नहीं हो सकती । वही अनशन तप में गिना जा सकता है जो कर्म नष्ट करने के उद्देश्य से किया गया हो ।

पहले बतलाया गया था कि ऊनोदरी तप किया जाये तो अनशन करने की आवश्यकता ही न रहे । इसका अर्थ यह नहीं कि ऊनोदरी करने वाले को अनशन तप करना ही नहीं चाहिए । यह बात व्यावहारिक दृष्टि से कही गई थी कि रोग नष्ट करने के लिए जो ऊनोदरी करता है उसे अनशन करने की आवश्यकता ही नहीं रहती । कर्मों को नष्ट करने के उद्देश्य से तो ऊनोदरी तप करने वाला अगर अनशन तप करता है तो और भी अच्छी बात है ।

जिस तप से मन, वचन और काय की शुद्धि होती

है, वही तप श्रेष्ठ है । मन, वचन और काय की शुद्धि करने वाला तप ही वास्तविक तप है । कितनेक तपस्वी अधिक क्रोधी होते हैं । मगर जो प्रचण्ड क्रोध करता है, कहा जा सकता है कि उसमें अभी तक तप नहीं है । तप में क्रोध को स्थान नहीं हो सकता । जिस तप में क्रोध को स्थान नहीं है, वही तप वास्तविक है ।

जैनशास्त्र अनशन तप को महत्वपूर्ण स्थान देता है । महाभारत में भी अनशन तप की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है । कहा है—

तपो न अनशनात् परम् ।

अर्थात्—अनशन से श्रेष्ठ और कोई तप नहीं है ।

तप आत्मा को सब पापों से अलग रखता है । जो तप करता है वह अहिंसा का भी पालन करता है, सत्य का भी पालन करता है, अदत्तादानत्याग का भी पालन करता है और वही ब्रह्मचर्य आदि का भी पालन करता है । ब्रह्मचर्य पालने के लिए मानसिक वृत्तियों को वश करने की आवश्यकता है । मन की वृत्तियाँ अन्य उपायों से कदाचित् वश में न भी हो, परन्तु अनशन तप से अवश्य वश में हो जाती है । गीता में कहा है—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।

रसवज्ज्यं रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥

अर्थात्—अनशन करने से विषय की वासना ही नष्ट हो जाती है और वासना के नष्ट हो जाने पर अब्रह्मचर्य या अन्य पापों की भावना ही किस प्रकार टिकी रह सकती है ।

तप करने वाले की वाणी पवित्र और प्रिय होती है। और जो प्रिय, पथ्य और सत्य बोलता है उसी का तप वास्तव में तप है। असत्य या कटुक वाणी कहने का तपस्वी को अधिकार नहीं है। तपस्वी सत्य और प्रिय वाणी ही बोल सकता है। तपस्वी को भूल कर भी ऐसे वचनों का प्रयोग नहीं करना चाहिए जिसमें दूसरों का दुःख या भय उत्पन्न हो। तपस्वी तो भयभीत का भी अनन्य अमृतमयी वाणी द्वारा निर्भय बना देता है। जब सयति राजा भयभीत हो गया था तब गर्दभालि मुनि ने उसे आश्वासन देते हुए कहा था—‘पृथ्वीपति ! तू निर्भय हो। भय मन कर।’ वह मुनि तपोधन थे, ऐसा शास्त्र का उल्लेख है। तपोधन दूसरों को निर्भय बनाता है और अपनी वाणी द्वारा किसी को भी भय नहीं पहुँचाता।

भयभीत व्यक्ति को निर्भय बनाते समय तपोधन मुनि भयभीत व्यक्ति के अपराधों की ओर नहीं देखते। उनका दृष्टिकोण भयभीत को निर्भय बनाना ही होता है। जो पुरुष तपस्वी को गालियाँ देता है या मारपीट करता है, उसे भी तपस्वी कटुक वचन कहकर भयभीत नहीं करता, प्रत्युत उसे अभयदान देकर निर्भय बनाता है। तपस्वी दूसरों द्वारा दिये हुए कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लेता है मगर सामर्थ्य होने पर भी दूसरों को भयभीत नहीं करता। यही तपस्वी की बड़ी विशेषता है। गजसुकुमार मुनि में क्या शक्ति नहीं थी ? फिर भी उन्होंने मस्तक पर घघकते हुए अगार रखने वाले सोमल ब्राह्मण को वचन से भी भयभीत नहीं किया। बल्कि उसे परम सहायक समझ कर अभयदान दिया। इतना ही नहीं, गजसुकुमार के गुरु भगवान् नेमिनाथ

ने श्रीकृष्ण से भी यही कहा था कि—हे कृष्ण ! उस पुरुष पर क्रोध मत करो । उसने तो गजसुकुमार मुनि को सहायता दी है । यद्यपि सोमल ब्राह्मण ने उनके शिष्य के माथे पर दहकते हुए अगारे रखे थे, फिर भी भगवान् ने उस पर क्रोध नहीं किया और श्रीकृष्ण को भी क्रोध करने से रोका । इस प्रकार तपस्वी किसी को भयभीत नहीं करते और जो भयभीत होते हैं, उन्हें अपनी अमृतवाणी द्वारा आश्वासन देकर निर्भय बनाते हैं ।

कहने का आशय यह है कि तपस्वी की वाणी में शुद्धि और पवित्रता होनी चाहिए । इतना ही नहीं, वरन् उसके मन में भी शुद्धि और पवित्रता होना आवश्यक है । ऐसा नहीं होना चाहिए कि प्रकट में वाणी द्वारा कुछ और कहा जाये तथा मन में दुर्भावना रखी जाये । जो तपस्वी अपने मन और वचन में एकता नहीं रखता उसका तप प्रशस्त नहीं है । सच्चा तप तो वही है जिसके द्वारा मन शरद्-ऋतु के चन्द्रमा के समान निर्मल बन जाता है । मन में जब रजोगुण या तमोगुण होता है तब मन निर्मल नहीं रह सकता । जिसका मन रजोगुण या तमोगुण से अतीत हो जाये अथवा त्रिगुणातीत हो जाये तो समझना चाहिए कि वह सच्चा तपस्वी है और उसका मन निर्मल है । जब तपस्वी का मन त्रिगुणातीत होकर निर्मल हो जाता है तभी तपस्वी का मन फलता है अर्थात् तप का फल व्यवदान प्राप्त होता है । जैसे चन्द्रमा गीतलता प्रदान करता है और अपने इस कार्य में वह राजारक का भेद नहीं रखता, अपना सौम्य प्रकाश सभी को समान रूप से प्रदान करता है, उभी प्रकार जो महात्मा मन में किसी के प्रति, किसी भी प्रकार का भेद नहीं रखता—

सभी को शान्ति पहुंचाता है, वही कर्मों का नाश कर के मुक्त हो सकता है । इस विषय में गीता में कहा है—

मन प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहम् ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥

तप मानसिक, वाचिक और कायिक के भेद से तीन प्रकार का है । तीनों प्रकार से तप करने वाले का ही तप परिपूर्ण कहलाता है । पूर्ण तपस्वी का मन प्रसन्न और शांत रहता है ।

किसी धन के अभिलाषी को अनायास ही धन मिल जाये तो वह कितना प्रसन्न होता है ? धन के अभिलाषी पुरुष के लिए जो धन आनन्ददायक है वही धन साधुओं के लिए हानिकर है । चोर का भय प्रायः धनिकों को होता है । राजा धनिकों को ही अधिक सताता है पर तपस्वियों को किसी का भय नहीं होता । इस प्रकार धन कोई उत्तम वस्तु नहीं है, फिर भी गृहस्थों को धन रखना ही पडा है, क्योंकि धन के बिना ससार-व्यवहार नहीं चलता । जैसे ससार-व्यवहार के लिए धन का होना आवश्यक समझा जाता है, उसी प्रकार साधुओं के लिए तप का होना अत्यन्त आवश्यक है । गृहस्थों का धन रुपया-पैसा है और साधुओं का धन तप है । साधुओं के लिए शास्त्र में कहा है—‘अणगारे तवो-धने ।’ अर्थात् साधु तपोधनी है । जो मुनि तपोधनी होता है, उसका मन गंगा के जल के समान निर्मल होता है । गंगाजल में लोग गदगी डालते हैं तो गंगा उस गदगी को भी साफ कर देती है । इसी प्रकार तपोधनी मुनि गदे मनुष्यों को बन्दे अर्थात् परमात्मा के भक्त बना देते हैं । तपोधनी

का प्रशस्त मुख देखकर वैरी भी अपना वैर भूल जाता है। तपोधनी का मुख शांत, मन प्रसन्न और वचन मधुर होता है। तपस्वी की मुखमुद्रा पर शांति और सौम्यता का भाव टपकता रहता है। यह सौम्य भाव देखने मात्र से तपस्वी का तपस्तेज प्रतीत हो जाता है। तपस्वियों की प्रशान्त मुख-मुद्रा से ही विदित हो जाता है कि इन महात्मा की तप-श्चरण आदि गुणसम्पत्ति कितनी है ! तपस्वियों की तप समृद्धि किस प्रकार खयाल में आ जाती है, इस बात का वर्णन श्री उत्तराध्ययनसूत्र के बीसवें अध्ययन में किया गया है। अनाथी मुनि को देखकर राजा श्रेणिक कहने लगा—अहो ! इन मुनि में कैसी क्षमा है। कैसा इन्द्रियनिग्रह है ! मुनि कितने सौम्य हैं ! इनका कैसा तपस्तेज है।

राजा ने अनाथी मुनि की क्षमा या तप साक्षात् नहीं देखा था। फिर भी उनकी मुखमुद्रा पर से ही अनुमान कर लिया था कि यह मुनि क्षमासागर और तपस्वी हैं। तपस्वी का मुख सदैव सौम्य रहता है।

तपस्वी महात्मा या तो स्वाध्याय में या परमात्मा के ध्यान में लीन रहते हैं अथवा मौन का सेवन करते हैं। वे अधिक नहीं बोलते और जब बोलते हैं तो तप के लिए ही बोलते हैं अर्थात् दूसरों को निर्भय बनाने के लिए ही बोलते हैं। गर्दभालि मुनि ध्यान-मौन में थे, परन्तु सयति राजा को भयभीत देखकर उसे निर्भय बनाने के लिए ही वह बोले थे। इस प्रकार तपस्वी मन की गति को आत्मा का निग्रह करने की ओर झुकाते हैं। वे अन्य कर्मों में मन का उपयोग नहीं करते। तपस्वियों के भाव उज्ज्वल होते हैं, मलीन नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस तप द्वारा मान-

सिक शुद्धि हो वही सच्चा तप है । कर्म की निर्जरा करने के लिए अर्थात् व्यवदान फल प्राप्त करने के लिए जीवन में तप को स्थान दो तो कल्याण होगा ।

साधुओं के लिए शास्त्र में कहा है—

संजमेण तवसा अघ्याणं भावेमाणा विहरइ ।

अर्थात्— जो तप-सयम द्वारा आत्मा को भावित करता हुआ विचरता है वही वास्तव में साधु है । ऐसा तपस्वी और सयमी साधु अपना और पर का कल्याण साधन कर सकता है ।

पहले बतलाया जा चुका है कि जैनशास्त्र क्रियात्मक धर्म की प्ररूपण करता है । इस प्रश्न से भी यह बात सिद्ध होती है । अतएव जो साधु साध्वी, श्रावक या श्राविका अपने को भगवान् के शासन का अनुयायी मानता हो, उसे तप और सयम की आराधना करनी चाहिए । तप और सयम से ही आत्मा का कल्याण होता है । अतः मन, वचन और काय से तप एवं सयम को अपने जीवन में प्रत्येक को स्थान देना चाहिए । ऐसा किये बिना आत्म-कल्याण नहीं होता ।

कितनेक लोग दूसरे को कष्ट देने के लिए या अपना कोई स्वार्थ साधने के लिए भी तप करते हैं, मगर ऐसा तप इस तप में नहीं गिना जा सकता । यहाँ जिस तप का वर्णन किया गया है, वह कर्मों का क्षय करने के लिए ही है । वास्तव में सच्चा तप वही है जो दूसरों को कष्ट देने के लिए न किया गया हो, सिर्फ कर्मों की निर्जरा के उद्देश्य से किया गया हो ।



# अट्टाईसवां बोल

## व्यवदान

सम्यक्त्व मे पराक्रम करने के लिए भगवान् ने ७३ बोल कहे हैं । उनमे से २७ बोलो का विवेचन विस्तार-पूर्वक किया जा चुका है । ५७ वें बोल मे तप के विषय मे प्रश्न किया गया था कि — ‘तवेण भते ! जीवे कि जणयइ ?’ अर्थात् हे भगवन् ! तपश्चर्या से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने फर्माया—‘तवेण जीवे वोदाण जणयइ ।’ अर्थात्—तपश्चर्या करने से व्यवदान अर्थात् पूर्व संचित कर्मों का क्षय होता है ।

अब गौतम स्वामी यह प्रश्न कर रहे हैं कि पूर्व संचित कर्मों का क्षय करने से, व्यवदान से—जीव को क्या लाभ होता है ?

## मूलपाठ

प्रश्न वोदाणेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर— वोदाणेण अकिरियं जणयइ, अकिरियाए भवित्ता तश्चो पच्छा सिज्झइ, बुज्झइ मुच्चइ, परिनिव्वायइ, सव्वदुक्खाणमंतं करेइ ॥२८॥



## शब्दार्थ

प्रश्न व्यवदान से, भगवन् ! जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—व्यवदान (पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से) जीवात्मा सब प्रकार को क्रिया से रहित होता है और फिर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होकर सब दुखों का अन्त करता है ।

## विवेचन

व्यवदान, तप का साक्षात् और तात्कालिक फल है । फल दो प्रकार का होता है । एक ता अनन्तर अर्थात् तत्काल मिलने वाला फल और दूसरा पारम्परिक फल अर्थात् परम्परा से मिलने वाला । व्यवदान तप का तत्काल मिलने वाला फल है । कर्म समाप्त होते ही जो फल मिलता है वह आनन्तर्य फल कहलाता है और तप का अनन्तर्य फल व्यवदान है । इस प्रकार पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होना तप का तत्काल मिलने वाला फल है ।

तप का तात्कालिक फल व्यवदान अर्थात् संचित कर्मों का क्षय होना है, परन्तु पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से जीवात्मा को लाभ क्या होता है ? यह प्रश्न भगवान् से पूछा गया है । गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया— व्यवदान करने से जीव अक्रिय अवस्था प्राप्त करता है ।

जहाँ कोई भी क्रिया करने का निमित्त नहीं रहता वह अक्रिय दशा कहलाती है । यह अक्रिय अवस्था प्राप्त

हो जाना व्यवदान का फल है ।

शास्त्र में शुक्लध्यान के चार भेद बतलाये गए हैं । उनमें चौथा भेद अक्रिय अवस्था है । यह अक्रिय अवस्था मोक्षप्राप्ति के समय ही प्राप्त होती है । अक्रिय अवस्था प्राप्त करने से आत्मा मन, वचन, काय के योग का निरोध करके शैल-पर्वत की भाँति अडोलस्थिर अकप वन जाता है । शास्त्र में कहा है आत्मा में जब तक कर्मों का प्रभाव बना रहता है तब तक आत्मा स्थिर नहीं हो सकता । कर्म जब नष्ट हो जाते हैं तभी आत्मा स्थिर और शांत बन सकता है ।

समुद्र का पानी स्वभाव से स्थिर है, परन्तु पवन की प्रेरणा के कारण चंचल बन जाता है । पानी का स्वभाव तो स्थिर रहने का है, परन्तु पानी से भरा बर्तन आग पर रखने से, आग की प्रेरणा पाकर पानी उबलने लगता है । एंजिन में आग की प्रेरणा से ही पानी के द्वारा भाप उत्पन्न होती है । उसी भाप के कारण एंजिन दूसरे डब्बों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर झपाटे के साथ ले जाता है और छोड़ आता है । इस प्रकार रेलगाड़ी का सारा व्यवहार प्रेरणा से ही चल रहा है ।

इसी प्रकार कर्म की प्रेरणा से आत्मा अपनी गाड़ी चौरासी लाख जीवयोनियों में दौड़ाता फिरता है । अब तो आत्मा को भव-भ्रमण की यह दौड़घाम बन्द करके अपने आपको 'स्थिर' करना चाहिए । आत्मा को स्थिर करने के लिए ही आत्मा को कर्म-रहित अक्रिय होने की आवश्यकता है ।

जैसे पानी का स्वभाव उबलने का नहीं है, फिर भी

आग की प्रेरणा से ही वह उबलता है, और यह प्रेरणा बाहरी होने के कारण रोकी भी जा सकती है। इसी प्रकार आत्मा को भवभ्रमण और अस्थिर रखने की प्रेरणा करने वाले कर्म हैं। कर्मों की यह प्रेरणा बाहरी और बनावटी होने के कारण रोकी जा सकती है। इसी कारण भगवान् ने फर्माया है कि पूर्वसंचित कर्मों का क्षय (व्यवदान) करने से जीवात्मा अक्रिय दशा प्राप्त करता है और फल स्वरूप सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शांत हो जाता है।

भगवान् का यह कथन इतना सरल और सत्य है कि सभी की समझ में आ सकता है। इस सत्य कथन में किसी को संदेह करने की गुंजाइश नहीं है। शास्त्र का कथन है कि आत्मा में जो कुछ भी अस्थिरता पाई जाती है वह योग की चपलता की बदौलत ही है। योग का निरोध करने से आत्मा की अस्थिरता मिट जाएगी और आत्मा 'स्थिर' तथा 'शांत' हो जाएगा।

भगवान् ने तो सब जीवात्माओं को उद्देश्य करके आत्मा को स्थिर बनाने का उपदेश दिया है, परन्तु लोगो का आत्मा तो घुड़दौड़ के घोड़े की तरह दौड़घूप ही करना चाहता है। ऐसी दशा में तुम्हारे आत्मा को शांति किस प्रकार मिल सकती है? घुड़दौड़ के घोड़े चाहे जितनी दौड़ लगावे, आखिर उन्हें शांति तो तब ही मिल सकती है, जब वे दौड़ बन्द करके स्थिर होते हैं। हमेशा दौड़ते रहना न ठीक है और न शक्य ही है।

इसी प्रकार आत्मा इस ससार में चाहे जितनी दौड़-घूप करे, मगर आखिर वह जब स्थिर होगा तभी उसे सच्ची

शांति मिनेगी । जहाँ तक आत्मा स्थिर नहीं होता तहाँ तक आत्मा को शांति मिलना संभव नहीं । व्यवहारदृष्टि से विचार करने पर भी यह बात पुष्ट होती है । तुम कार्य-वश बाजार जाकर चढ़े जितनी दौड़घाम करो, मगर घर आकर स्थिर और शांत हुए बिना व्यावहारिक शांति भी नहीं मिल सकती । यही बात दृष्टि में रखकर बुद्धिमान् पुरुषों ने कहा है कि मनुष्य में न तो ऐसा आलस्य ही होना चाहिए कि वह कोई काम ही पूरा न कर सके और न ऐसी चंचलता ही होनी चाहिए कि जिसके कारण शान्ति ही नसीब न हो सके । मनुष्य को मध्यम मार्ग पर चलने की आवश्यकता है ।

भगवन् ने योगनिरोध करने की जो बात कही है, वह चौदहवें गुणस्थान की है, और अपने इस काल में ऊँचे से ऊँचे छठे व सातवें गुणस्थान तक ही पहुँच सकते हैं । अतएव हमें दौड़ने की ऐसी उतावली नहीं करनी चाहिए कि रास्ते में कहीं ठोकर खाकर गिर पड़े, और ऐसी स्थिति हो जाय कि न इधर के रहे न उधर के रहे ।

शास्त्र के इस कथन को अमल में किस प्रकार लाया जाये, यह एक विचारणीय प्रश्न है । यह बात तो हमें स्मरण में रखनी चाहिए कि चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने से अक्रिय दशा प्राप्त होती है । अतएव एकदम ऐसा प्रयत्न नहीं करना चाहिए कि चौदहवें गुणस्थान की स्थिति प्राप्त करने के बदले और नीचे गिरने की नौबत आ जाय ।

किसी भी ऊँचे स्थान पर चढ़ने के लिए सीढ़ी-सीढ़ी चढ़ना पड़ता है । अगर कोई मनुष्य एक साथ, छलांग मार

कर दो-चार सोढियाँ कूदना चाहता है तो उसके नीचे पडने की अधिक सभावना रहती है । इसलिए हमें ऐसी छलांग नहीं मारनी चाहिए कि इस समय हम जिस गुणस्थान में हैं, उसमें भी नीचे पड जाए । हम लोगो को तो आत्मा का विकास करना है । अगर हम आलसी होकर बैठे रहेंगे तो आत्मविकास कैसे कर सकेंगे ? साथ ही एकदम छलांग मारकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करेंगे तो नीचे गिरने का भय है । अतएव मध्यम मार्ग का अवलम्बन करके क्रमपूर्वक आत्मविकास करना ही हमारे लिए श्रेयस्कर है ।

आजकल धार्मिक सुधार करने के लिए मध्यम श्रेणी के लोगो की अत्यन्त आवश्यकता है । हम साधुओ को पूर्व-काल के महात्माओ ने जो जबाबदारी सौंपी है, उसे एक किनारे रख देना और जो यम-नियम बताये हैं, उन्हें छोड़ बैठना हमारे-साधुओ के लिए उचित नहीं है ।

दूसरी तरफ, तुम लोग जैसा जीवनव्यवहार चला रहे हो, वैसा ही चालू रखोगे तो धर्मोन्नति होना कठिन है । पहले के जमाने में जो कुछ होता था वह उस जमाने के मुताबिक होता था । पर अब ऐसा जमाना आ गया है कि हमें समय नुसार धर्म के प्रचार करने का प्रयत्न करने की खास आवश्यकता है । पहले जमाने में आजकल की तरह धार्मिक पाठशालाएँ नहीं थी । उस समय साधु, श्रावको को प्रतिक्रमण आदि का धार्मिक शिक्षण देते थे । इसके सिवाय उस समय आजकल की भाँति व्यावहारिक शिक्षा भी नहीं दी जाती थी । जब लौकिक शिक्षा बढ़ गई है तो धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता भी बढ़ गई है । परन्तु तुम लोग तो ऐसे सब

काम साधुओं की मार्फत ही कराना चाहते हो और कहते हो कि साधु यह काम नहीं करते तो समाज का खाते क्यों हैं ? खाने के बदले वे हमारा क्या काम करते हैं ? ऐसा कहना तुम्हारी भूल है । साधु तुम्हारे भरोसे नहीं हैं । वे अपने समय का और अपने पूर्वजों द्वारा बाधे हुए नियमों का पालन करते हुए चाहे जहाँ से अन्न-पानी ला सकते हैं । इसलिए तुम साधुओं के सिर ही सारी जबाबदारी मत मढ़ो । विचार करो कि यह उत्तरदायित्व तुम्हारा भी है । तुम हमारे साथे उत्तरदायित्व मढ़ते हो मगर हम लोग कहा-कहा पहुँचे ? आत्मसुधार और धर्मसुधार के लिए तो साधु यथाशक्य प्रयत्न करते ही हैं । परन्तु तुम लोग जब विदेश जाते हो तो क्या अपने साथ अपना धर्म भी वहाँ ले जाते हो ? कहा जा सकता है कि ऐसा करने में धार्मिक बाधा आती है । इसका उत्तर यह है कि ऐसा कहने वाला भूल करता है । चम्पा का पालित श्रावक समुद्रयात्रा करके जिहुड नगर गया था । उसकी इस समुद्रयात्रा में क्या कुछ शास्त्रीय विरोधबाधा थी ? आज शास्त्र का रहस्य पूरी तरह समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता, शास्त्र का सिर्फ दुरुपयोग किया जाता है ।

जैनशास्त्र में ऐसी कोई सकीर्णता नहीं है । इतना ही नहीं, ससार में जो सकीर्णता फैली हुई थी जैनशास्त्रों ने उसे हटाया है और बताया है कि समुद्रयात्रा करना ऐसा कोई भयकर पाप नहीं है । जिस पालित श्रावक ने समुद्रयात्रा की थी, उसके विषय में शास्त्र में कहा गया है कि पालित श्रावक श्रावकों में पंडित और जैनशास्त्रों में कुशल था । उस पालित श्रावक की समुद्रयात्रा में जो धर्म बाधक

नहीं बना, वही धर्म आज बाधक कैसे हो सकता है ? अत-  
एव धर्म समुद्रयात्रा में बाधक है, ऐसा बहाना न करके जहाँ  
कहीं तुम जाओ, अपने धर्म को भी साथ लेते जाओ । सदैव  
ध्यान रखो कि हमारा धर्म हमारे साथ है और हमारी यात्रा  
का ध्येय धर्म का प्रचार करना है । तुम यही समझो कि  
हम अपने धर्म का प्रचार करने के लिए ही विदेश में आये  
हैं । क्या इस प्रकार धर्म का प्रचार करते रहने से तुम्हारे  
किसी व्यावहारिक काम में बाधा खड़ी होती है ? आर्यों के  
विषय में कहा जाता है कि आर्य लोग जब भारत में आये  
थे तब वे अपना धर्म और अपनी सस्कृति भी साथ लाए  
थे । जब आर्य लोग अपना धर्म और अपनी सस्कृति साथ  
लाए थे तो फिर तुम लोग अपने जैनधर्म को और अपनी  
जैनसस्कृति को विदेश में साथ क्यों नहीं ले जा सकते ?  
तात्पर्य यह है कि धर्मप्रचार के विषय में निष्क्रिय हो बैठने  
से काम नहीं चल सकता । श्रावकों को भी अपना उचित  
भाग अदा करना चाहिए ।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि व्यवदान से अर्थात्  
पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करने से जीव को क्या लाभ  
होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है - हे गौतम !  
प्रथम तो पूर्वसंचित कर्मों का क्षय होना ही अत्यन्त कठिन  
है, परन्तु जब कर्मों का क्षय हो जाता है तो जीवात्मा को  
अक्रिय अवस्था प्राप्त हो जाती है । यह अक्रिय अवस्था  
प्राप्त होने से आत्मा की अस्थिरता दूर हो जाती है और  
पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है ।

भगवान् के इस उत्तर से यह बात निश्चित हो जाती है कि ससार में जितनी चंचलता प्रतीत होती है, वह सब कर्मों की उपाधि के कारण ही है । यद्यपि चंचलता के कारण ससार है और ससार के कारण चंचलता है, तथापि प्रत्येक आत्महितैषी व्यक्ति को ससार के मायाजाल से मुक्त होने का और आत्मा को स्थिर करके शांति प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए । जन्म-मरण करते-करते आत्मा ने अनन्तकाल व्यतीत किया है, फिर भी उसे शांति नहीं मिली । वास्तव में जब तक आत्मा में चंचलता है, स्थिरता नहीं आई है, तब तक आत्मशांति नहीं मिल सकती । आत्म-शांति प्राप्त करने के लिए आत्मा को स्थिर करना चाहिए ।

जो आत्मा ससार में ही भ्रमण करना चाहता है उसके लिए तो यह घर्मोपदेश, भ्रम के आगे बिन बजाने के समान है, परन्तु जो जीवात्मा ससार की आधि, व्याधि और उपाधि से व्याकुल होकर ससार के मायाजाल से मुक्त होने की अभिलाषा रखते हैं, उनके लिए तो यह शांति का मार्ग है । आत्मा को स्थिर करना ही जन्म-मरण से मुक्त होने का और आत्मशांति प्राप्त करने का राजमार्ग है ।

हमारे सामने दो मार्ग हैं ससारमार्ग और मोक्षमार्ग । इन दो मार्गों में से आत्मा जिस मार्ग पर जाना चाहे, जा सकता है । ससारमार्ग पर जाने से भवभ्रमण बढ़ता है और मोक्षमार्ग पर चलने से भवभ्रमण रुकता है । ससारमार्ग वधन का कारण है और मोक्षमार्ग मुक्ति का कारण है । शास्त्रकार तो प्रत्येक जीवात्मा को मोक्ष का ही मार्ग बतलाते हैं, क्योंकि मोक्ष के मार्ग पर चलने से ही आत्मा



सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर शान्त बनता है और सब दुःखों का अन्त करता है ।

सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होने के लिए जीवात्मा को सर्व-प्रथम स्थिरात्मा बनने का आवश्यकता है । स्थिर हुए बिना आत्मा को शांति नहीं मिल सकती । वास्तव में आत्मा स्वभाव से तो स्थिर ही है, परन्तु कर्मरूपी अग्नि की प्रेरणा से वह अस्थिर बन गया है । कभी उच्च कर्मों का उदय होना है तो कभी-कभी नीच कर्मों का । अर्थात् कभी पुण्य का और कभी पाप का उदय होता रहता है । इसी कारण आत्मा अस्थिर बन जाता है । आत्मा को अस्थिर और अशांत बनाना कर्मों का मुख्य काम है । पुण्य और पाप दोनों कर्मों के ही विकार (फल) हैं । पुण्य, कर्मों का शुभ परिणाम है और पाप, अशुभ कर्मों का परिणाम है । इस प्रकार पुण्य-पाप दोनों कर्मों की ही सतान हैं । इसलिए शास्त्रकार कहते हैं कि आत्मा को पुण्य और पाप रूप दोनों प्रकार के कर्मों से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

पानी में चाहे शक्कर डाली जाये, चाहे कोई कटुक चीज डाली जाये, पानी तो दोनों के डालने से विकृत होगा ही । यह बात दूसरी है कि शक्कर डालने से पानी में जो विकृति आती है वह शुभ विकृति है और कटुक चीज के सयोग से होने वाली विकृति अशुभ है । परन्तु यह दोनों वस्तुएँ विकार-जनक होने के कारण उनसे पानी तो अशुद्ध हुआ ही । पानी में जब बाहर की कोई भी वस्तु न मिलाई जाये, तभी पानी का मूल स्वरूप देखा जा सकता है । इसी प्रकार पुण्यकर्म शुभ दशा है और पापकर्म अशुभ दशा है ।

परन्तु इन दोनों प्रकार के शुभाशुभ कर्मों द्वारा आत्मा तो विकृत होता ही है । शुभाशुभ कर्मों की इस विकृति से आत्मा जब छुटकारा पाता है तभी वह अपने असली स्वरूप में स्थिर होता है । इसी कारण शास्त्रकारों ने पुण्य और पाप दोनों प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को अन्त में त्याज्य बतलाया है ।

जीवात्मा मे जब तक बालभाव है—अज्ञान दशा है—तब तक वह शुभ कर्मों को शुद्ध समझता और उसी में आनन्द मानता है । परन्तु कर्म चाहे वह शुभ ही क्यों न हो, आत्मा को तो अशुद्ध ही बनाता है । जो लोग अपने आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं उन्हें तो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का त्याग करना पड़ेगा और आत्मा को कर्मरहित बनाना पड़ेगा ।

व्यवदान का फल बतलाये हुए भगवान् ने शुक्लध्यान को चौथी अवस्था-अक्रिय दशा की बात कही है । अक्रिय दशा का अनुभव मोक्ष जाने के समय ही होता है । मैं अब तक शुक्लध्यान की चौथी अक्रिय अवस्था का अनुभव नहीं कर सका हूँ, परन्तु जो महापुरुष तेरहवें गुणस्थान में पहुँच कर चौदहवें गुणस्थान की स्थिति प्रत्यक्ष देख रहे हैं, उनका कहना है कि अक्रिय दशा प्राप्त होते ही आत्मा मोक्ष प्राप्त कर लेता है । चौदहवें गुणस्थान की स्थिति, 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' इन पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारण में जितना समय लगता है उतने समय को है । इतने अल्प समय में आत्मा अक्रिय होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है । यद्यपि मोक्ष जाने में आत्मा को इतना ही समय लगता है, तथापि मोक्ष-

प्राप्ति के लिए अभ्यास-प्रयत्न पुरुषार्थ तो पहले से ही करना पड़ता है। जैसे निशाना ताकने में अधिक समय नहीं लगता, मगर निशाना ताकने का अभ्यास करने में बहुत समय लगता है और लम्बे समय तक अभ्यास करने के बाद ही ठीक निशाना साधा जा सकता है इसी प्रकार मोक्ष तो थोड़े ही समय में हो जाता है परन्तु उसके लिए पहले अधिक अभ्यास करना आवश्यक है। राधावेद्य करने में बहुत समय नहीं लगता है। इसी प्रकार मोक्ष तो पाच लघु अक्षर उच्चारण करने जितने काल में हो जाता है परन्तु इस लक्ष्य को साधने के लिए पहले बहुत समय अभ्यास करना पड़ता है। शास्त्रकार मोक्षरूपी लक्ष्य को साधने का ही उपदेश देते हैं। इस उपदेश का ध्यान रखते हुए मोक्ष साधने का अभ्यास करने रहो। अगर अभ्यास और प्रयत्न ठीक तरह किया जायेगा तो कार्य सिद्ध होते देर नहीं लगेगी।

प्रत्येक लक्ष्य को साधने का अभ्यास या प्रयत्न उपयुक्त साधनो द्वारा ही करना चाहिए, विपरीत साधनो द्वारा नहीं। विपरीत साधनो द्वारा अभ्यास करने से कार्य सिद्ध होने के बजाय विगड़ जाता है।

भगवान् कहते हैं - तप का फल व्यवदान है और व्यवदान का फल अक्रिया है। अक्रिया दशा प्राप्त होने पर ही आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है। अक्रिय दशा को प्राप्त होने पर आत्मा जब सिद्ध हो जाता है और सिद्ध शब्द में दूसरे सब शब्द गतार्थ हो जाते हैं तो फिर शास्त्रकारों ने 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध', 'मुक्त' आदि शब्दों का प्रयोग किस प्रयोजन से किया है? ऐसा करने में उनका

क्या आशय था ? इस बात पर यथामति और यथाशक्ति विचार करना आवश्यक है ।

ससार में सिद्धि का स्वरूप भिन्न भिन्न दृष्टियों से माना जाता है । कुछ लोग दीप-निर्वाण के समान अर्थात् दीपक बुझ जाने के समान सिद्धि का स्वरूप मानते हैं । उनका कहना है कि जैसे बुझ जाने के बाद दीपक कुछ भी नहीं रहता, उसी प्रकार आत्मा सिद्ध होने के बाद कुछ भी नहीं रहता । परन्तु जैनशास्त्र में सिद्धि का ऐसा स्वरूप नहीं स्वीकार किया गया है । अतः दीप निर्वाण के समान सिद्धि का स्वरूप मानने वालों का निषेध करने के लिए ही 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का उपयोग किया है । ॥

कुछ दार्शनिकों की यह मान्यता है कि सिद्धि अवस्था में आत्मा के सभी विशिष्ट गुण नष्ट हो जाते हैं । आत्मा का अस्तित्व तो रहता है मगर उसकी 'बुद्धि' अर्थात् ज्ञान का सर्वथा नाश हो जाता है । मतलब यह हुआ कि सिद्धि-दशा में आत्मा पत्थर की तरह जड़ हो जाता है । 'सिद्धि' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके शास्त्रकारों ने इस भ्रम का भी निवारण कर दिया है ।

आत्मा के विक्रमक्रम के अनुसार आत्मा पहले 'बुद्ध' होता है और फिर सिद्ध होता है । तेरहवें गुणस्थान में 'बुद्ध' हो जाता है । मगर 'सिद्ध' नहीं होता । सिद्धदशा उसके बाद प्राप्त होती है । इस क्रम के अनुसार पहले 'बुद्ध' और फिर 'सिद्ध' कहना चाहिए था, मगर शास्त्रकारों ने पहले 'सिद्ध' और बाद में 'बुद्ध' कहा है । इसका कारण भी यही है । वैशेषिकदर्शन सिद्ध होने से पहले तो आत्मा को

बुझा हुआ दीपक न अघकार फैलाता है, न प्रकाश करता है । अगर दीपक की तरह अत्मा भी सिद्ध होने के बाद अस्तित्व में न रहे और नष्ट हो जाये तो फिर आत्मा की ऐसी सिद्धि किस काम की ? आत्मा सिद्ध होने पर अस्तित्व में ही न रहे, वरन् दीपनिर्वाण की तरह नष्ट हो जाये, ऐसा मान लिया जाये तो अनेक दोष आते हैं । इन दोषों का परिहार करने के लिए शास्त्र में 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करके बतलाया गया है कि आत्मा सिद्ध होने पर बुद्ध भी होता है अर्थात् सर्वज्ञानी और सर्वदर्शनी बन जाता है ।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, उस सिद्धात्मा के लिए क्या करना शेष रह जाता है ? या सिद्ध होने के बाद 'बुद्ध' होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि पूर्णज्ञानी होने के बाद 'ही सिद्ध' दशा प्राप्त होती है । परन्तु जैसे अभ्यास करने का

'बुद्ध' (ज्ञानी) मानता है मगर सिद्ध होने के बाद बुद्ध नहीं मानता । सिद्ध होने पर बोध नष्ट हो जाता है । मगर शास्त्रकार 'सिद्ध' शब्द से पहले 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग करते तो पाठको को संदेह हो सकता था कि सिद्ध होने से पहले तो बुद्ध भले हो मगर 'सिद्ध' होने के बाद 'बुद्ध' रहना है या नहीं ? इस शका का समाधान करने के लिए पहले सिद्ध और फिर बुद्ध शब्द का प्रयोग किया है । इसका अर्थ यह निकला कि सिद्ध होने के बाद भी आत्मा बुद्ध रहता है ।

प्रमाणपत्र मिलने पर ही अभ्यास का महत्व बढ़ता है, उसी प्रकार पूर्णज्ञानी होने का प्रमाणपत्र सिद्धि प्राप्त होने पर मिलता है । जब अभ्यास करने का प्रमाणपत्र मिल जाता है तभी जनसमाज में अभ्यास की कीमत आती जाती है । इसी प्रकार सिद्ध होने से पहले पूर्णज्ञान रहता ही है मगर उसका प्रमाणपत्र सिद्धि प्राप्त होना है । शास्त्र में कहा है कि बुद्ध होने से कोई नवीन ज्ञान नहीं आ जाता । ज्ञान तो तेरहवें गुणस्थान से ही होता है, परन्तु सिद्ध होने के बाद वह नष्ट नहीं हो जाता । यह बताने के लिए 'सिद्ध' शब्द के साथ 'बुद्ध' होने का भी कथन किया गया है ।

कुछ लोगों का कहना है कि सिद्ध आत्मा भी ससार में अवतार धारण करता है—जन्म लेता है । एक बार सिद्ध हो जाने पर वह आत्मा जब संसार में किसी प्रकार की विपरीतता देखता है तब राग-द्वेष से प्रेरित होकर फिर ससार में अवतार लेता है । भगवान् महावीर ने जो सिद्धि कही है, वह इस प्रकार की नहीं है । शास्त्रकार तो स्पष्ट कहते हैं कि जो आत्मा सिद्ध हो जाता है, वह जन्म-मरण से मुक्त भी हो जाता है । यही बात विशेष स्पष्ट करने के लिए भगवान् ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध'-शब्दों के साथ 'मुक्त' शब्द का भी प्रयोग किया है । गीता में भी कहा है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ।

अर्थात्—जहाँ जाने के बाद पीछे लौटना नहीं पड़ता, वही मेरा धाम है ।

गीता में तो ऐसा कहा है, फिर भी उसके अर्थ का खयाल न करके कहा जाता है कि सिद्ध होने के बाद भी

आत्मा जगत् को विपरीतता दूर करने के लिए ससार में जन्म धारण करता है । इस मान्यता का निषेध करने के लिए ही शास्त्रकारों ने 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्दों के साथ 'मुक्त' शब्द का प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया है कि सिद्ध हुए आत्मा को ससार में अवतार या जन्म नहीं लेना पड़ता ।

इस कथन पर यह आशंका हो सकती है कि इसी प्रकार जीव सिद्ध होते रहेगे तो एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब इस संसार में एक भी जीव बाकी नहीं रहेगा । कुछ लोगों को यह भय लगा है कि ससार कहीं जीवों से एकदम खाली न हो जाये । इस कारण वे कहते हैं कि जीवात्मा थोड़े समय तक सिद्धिस्थ न रहे रह कर फिर ससार में लौट आता है । मगर यह कल्पना मिथ्या है और भ्रम उत्पन्न करने वाली है । तुम लोग भी गायद यही सोचते होगे कि जीव अगर इसी तरह मुक्त होते रहे और वापस न आये तो कभी न कभी सारा ससार जीवों से शून्य हो जायेगा । परन्तु इस बात पर यदि गहरे उत्तर कर बुद्धि-पूर्वक विचार करोगे तो तुम्हें यह लगे बिना नहीं रहेगा कि यह कल्पना खोटी और भ्रामक है । जिन महात्माओं ने सिद्धि प्राप्त की है और सिद्धि का स्वरूप देखा है-जाना है, उन महात्माओं ने काल को भी देखा और जाना है, उसके बाद ही उन्होंने अपना निर्णय घोषित किया है कि ससार कभी जीवरहित हो ही नहीं सकता । ज्ञानी महात्माओं के इस कथन पर तुम स्वयं भी गहरा विचार करोगे तो इस कथन को समझे बिना नहीं रह सकते और तुम्हारा सारा सदेह मिट जाएगा ।

तुम जरा काल के विषय में विचार करो। क्या भूत-काल का कहीं अन्त मालूम होता है ? तिथि, मास, वर्ष वगैरह बहुत बार व्यतीत हो चुके । सब की गणना करो तो भी भूतकाल का अन्त नहीं आ सकता । उसे अनन्त कहना पड़ेगा । अपने वर्तमान जीवन का अन्त तो आ जायेगा मगर भविष्यकाल का अन्त नहीं आ सकता । इस प्रकार जब भूतकाल और भविष्यकाल का अन्त नहीं तो उन कालों में होने वाले पदार्थों का अन्त कैसे हो सकता है ? ससार के समस्त काम काल के साथ ही होते हैं । अतएव जानी आत्माओं ने भूतकाल और भविष्यकाल को देखकर कहा है कि जीव, काल की अपेक्षा अनन्तगुणा अधिक हैं । अतएव ससार का अन्त नहीं आ सकता तथा किसी भी काल में वह जीवों से रहित भी नहीं हो सकता । यही बात स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देता हूँ —

मान लो किसी कोठरी में श्रीफल भरे हैं और दूसरी कोठरी में खसखस के दाने भरे हैं। दोनों कोठरियाँ लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई में बराबर हैं । मगर श्रीफल परिमाण में बड़े होने से, गिनती के लिहाज से, खसखस के दानों की अपेक्षा बहुत थोड़े हैं । अब अगर दोनों कोठरियों में, से, क्रमशः एक श्रीफल और एक खसखस का दाना बाहर निकाला जाये तो पहले कौनसी कोठरी खाली होगी ? श्रीफलों की कोठरी का पहले खाली होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार काल श्रीफलों के बराबर है और जीवात्मा खसखस के दानों के बराबर हैं । जब काल का ही अन्त नहीं तो जीवों का अन्त कैसे आ जाएगा ?



इस प्रश्न के विषय में पूज्य श्रीलालजी महाराज बहुत बार फर्माया करते थे कि रूपयो का चाहे जितना ऊँचा ढेर करो, क्या आकाश का अभी अन्त आ सकता है ? रूपयो का ढेर करने से आकाश का उतना हिस्सा अवश्य सकता है, परन्तु उससे आकाश का अन्त नहीं आ सकता । कारण यह है कि आकाश अनन्त है इसी प्रकार जीवात्मा कितने ही सिद्ध हो, मगर ससार का अन्त नहीं आ सकता । वह बात श्रद्धागम्य है । तुमने भूतकाल और भविष्य को अनन्त नहीं जाना है, फिर भी श्रद्धा के कारण ही उन्हें अनन्त कहते हो । तो जिम प्रकार श्रद्धा से काल को अनन्त मानते हो उसी प्रकार श्रद्धा से यह भी मानो कि जीव चाहे जितने सिद्ध हो तो भी ससार जीवरहित नहीं हो सकता ।

भगवान् ने कहा है, जीव जब पूर्वसंचित कर्मों का क्षय कर डालता है तब उसे अक्रिय दशा प्राप्त होती है और उसके बाद सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर परिनिर्वाण प्राप्त करता है अर्थात् उपाधिरहित होकर सर्वदुःखों का अन्त करता है । जीव जब उपाधिरहित बन जाता है तब उसे संसार में वापस लौटने की आवश्यकता ही नहीं रहती । जैसे दगध (जले हुए) बीज में से अकुर नहीं फूटता उसी प्रकार जिन्होंने उपाधियों का अन्त कर डाला है, उन्हें संसार में फिर अवतार या जन्मधारण करने की आवश्यकता ही नहीं रहती ।

सिद्धि का ऐसा स्वरूप है । इस स्वरूप को जानकर कोई कहते हैं कि ऐसी सिद्धि किस काम की ? ऐसा कहने वालों से और क्या कहा जा सकता है ? जो लोग सिद्धि-

स्थान में जाना चाहते हैं, उनके लिए तो भगवान् ने मोक्ष का मार्ग बतलाया ही है पर जो लोग सिद्धि नहीं चाहत उन्हें मोक्ष का मार्ग बताना बृथा है । आत्मा में जब तक बालबुद्धि है तब तक आत्मा सुख में दुःख और दुःख में सुख मानता है । बालजीव ससार के पदार्थों में सुख मानते हैं, परन्तु वास्तव में आत्मा में जो अनन्त सुख भरा हुआ है, उस सुख की थोड़ी-सी भाँकी ही सासारिक पदार्थों में आती है और इसी कारण सासारिक पदार्थ सुखरूप जान पड़ते हैं । वास्तव में पदार्थों में सुख नहीं है । सच्चा सुख तो आत्मा में ही भरा है । पदार्थों में सुख मानना तो उपाधि है । इस उपाधि से मुक्त होकर आत्मा में रहे हुए सुख की शोध और उसी का विकास करना चाहिए ।

आत्मा में रहे हुए अनन्त सुख को विकसित करना ही सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है । ससार की उपाधि से छुटकारा पाने के लिए अक्रिय बनने की परमात्मा से प्रार्थना करनी चाहिए । ससार के समस्त दुःखों का अन्त अक्रिय से ही होता है और अक्रिय दशा पूर्वसंचित कर्मों का नाश करने से प्राप्त होती है । अतः प्रत्येक आत्महितैषी को तप द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय करके अक्रिय दशा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

व्यवदान के फल के विषय में विचार करते हुए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तप द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का नाश होता है, यह बात सुनिश्चित है, तो फिर व्यवदान का फल पूछने की क्या आवश्यकता थी ?

टीकाकार यह प्रश्न खड़ा करके उसका समाधान करते

हुए कहते हैं—सूत्र की बात गहन है । सूत्र में किसी जगह अतिदेश द्वारा और किसी जगह साक्षात् रूप से विषय का कथन किया गया है । अर्थात् कोई बात विस्तार से और कोई बात संक्षेप से बतलाई है । ज्ञानीजनों को जहाँ जैसा उचित प्रतीत हुआ, उन्होंने वहाँ वैसा ही कथन किया है ।

अतिदेश का साधारणतया अर्थ है—गौण बात कहना । अतिदेश द्वारा कही जाने वाली बात गौण होती है और साक्षात् कही जाने वाली मुख्य । उदाहरणार्थ किसी सेठ ने अपने नौकर से दातौन मगवाया । नौकर ने विचार किया—दातौन के साथ पानी भी चाहिए और मुँह पोंछने के लिए तौलिया भी चाहिए । इस प्रकार सेठ ने मगवाया तो दातौन ही था, किन्तु गौण रूप से पानी और तौलिया लाने का भी संकेत था । इस प्रकार मुख्य रूप से और कोई बात हो तथा गौण रूप से दूसरी ही बात का संकेत हो, वह अतिदेश कहलाता है । कदाचित् सेठ नौकर से कहे कि मैंने तो सिर्फ दातौन मगवाया था । पानी और तौलिया कहाँ मगवाया था ? तो उत्तर में नौकर यही कहेगा - मुख्य रूप से तो आपने दातौन ही मगवाया था मगर गौण रूप से पानी और गमछा भी मगवाया था, क्योंकि दातौन के साथ पानी और गमछे की भी जरूरत रहती है ।

इसी प्रकार शास्त्र में तपश्चर्या का फल पूर्वसंचित कर्मों का क्षय अर्थात् व्यवदान बतलाया है और व्यवदान के साथ ही अतिदेश द्वारा अक्रियदशा का भी कथन किया गया है । फिर भी व्यवदान के फल के विषय में पुनः प्रश्न क्यों किया गया है ? इसका समाधान करते हुए टीकाकार

कहते हैं— शास्त्र में कही मुख्य रूप में कोई बात कही गई है और कही गौण रूप में कही गई है। ऐसा देखा जाता है।

व्यवदान का फल बतलाते हुए अक्रिय तथा सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण और सब दुखों का अन्त होता है, ऐसा कहा गया है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब सिद्ध होना कहा और सिद्धि में प्रत्येक बात का समावेश हो जाता है तो फिर बुद्ध, मुक्त, परिनिर्वाण और सब दुखों का अन्त करने की बात किस प्रयोजन से कही गई है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कोई बात एकार्थ नाना घोषों में भी कही जाती है। तदनुसार यहाँ व्यवदान का फल भी एकार्थ नाना घोष से कहा है। सिद्ध होने वाला व्यक्ति बुद्ध भी हो जाता है, मुक्त भी हो जाता है, परिनिर्वाण भी पा लेता है और सब दुखों का अन्त भी कर डालता है। ऐसा होने पर भी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आदि शब्दों को जुदा-जुदा कहने का कारण, मेरी समझ से, यह मालूम होता है कि जैनशास्त्रानुसार सिद्ध होने वाला बुद्ध भी होता है। कुछ लोग मोक्ष में अज्ञान-अवस्था बतलाते हैं। जैन-शास्त्र इस मान्यता से सहमत नहीं है। मोक्ष में अज्ञान-अवस्था मानने वालों के शब्दाघात से अपना पक्ष सुरक्षित रखने के लिए ही 'सिद्ध' कहने के साथ ही 'बुद्ध' होना भी कहा गया है। वास्तव में तो सिद्ध होना और बुद्ध होना एक ही बात है। यही बात यहाँ नाना घोष से प्रकट की गई है।

किसी-किसी का कथन है कि सिद्ध को ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक ही साथ होता है परन्तु आचार्यों का

मत यह भी है कि सिद्धों में ज्ञान और दर्शन का एक साथ उपयोग नहीं रहता । जब ज्ञान का उपयोग होता है तब दर्शन का उपयोग नहीं रहता और जब दर्शन का उपयोग होता है तब ज्ञान का उपयोग नहीं रहता । यह विषय चर्चास्पद है । अगर किसी चर्चास्पद विषय में हमारी बुद्धि काम न दे सके तो 'केवलिवाक्य प्रमाण' कहकर सतोष मानना चाहिए । परन्तु जो बात शास्त्र में स्पष्ट रूप से कही गई हो, उसे तो उसी रूप में मानना चाहिए । सिद्ध के ज्ञान और दर्शन का उपयोग एक साथ होता है या नहीं, इस विषय में पञ्चवणासूत्र में कहा है—

केवली ण भते ! जं समय जाणइ न तं समयं पासइ !

जं समयं पासइ न तं समय जाणइ ? हता, गोयमा !

अर्थात्—गौतम स्वामी ने प्रश्न पूछा—भगवन् ! केवली का जब ज्ञानोपयोग होता है तब दर्शनोपयोग नहीं होता ? और जब दर्शनोपयोग होता है तब ज्ञानोपयोग नहीं होता ?

उत्तर में भगवान् ने कहा—हां, गौतम ! ऐसा ही है ।

शास्त्र में इस वचन के प्रमाण से हमें ऐसा मानना चाहिए कि सिद्ध को जब दर्शनोपयोग होता है, तब ज्ञान का उपयोग नहीं होता, और जब ज्ञान का उपयोग होता है, तब दर्शन का उपयोग नहीं होता ।

कहने का आशय है कि सिद्ध होने पर ज्ञान-विज्ञान नष्ट नहीं हो जाता, यह प्रकट करने के लिए ही 'सिद्ध' के साथ 'बुद्ध' शब्द का भी प्रयोग किया गया है । 'सिद्ध' और 'बुद्ध' शब्द के साथ अन्य शब्दों का प्रयोग किस प्रयोजन

से किया गया है, इस सम्बन्ध में सधारण विचार किया जा चुका है। यहाँ उस पर थोड़ा और विचार कर लेना है।

मुक्ति के विषय में भी कुछ लोगो की अलग मान्यता है। मुक्ति के विषय में जो विपरीत अर्थ किया जाता है, उससे अपने कथन को पृथक् रखने के लिए ही सिद्ध और बुद्ध के साथ 'मुक्त' शब्द का व्यवहार किया गया है।

मनुष्य का जीवन न केवल बड़े हथियार से ही, वरन् छोटी-सी सुई से भी नष्ट हो सकता है, उसी प्रकार माधारण बात की भिन्नता से भी सिद्धान्त में अन्तर पड़ जाता है और उसका खडन हो सकता है जब कुछ लोग किसी शब्द का अर्थ भिन्न प्रकार का ग्रथवा उलटा करने लगते हैं तब विपरीत अर्थ का निवारण करके सच्चा अर्थ बतलाना ज्ञानियो का कर्त्तव्य हो जाता है। इसी कर्त्तव्य का पालन करने के लिए शास्त्रकारो ने सिद्ध और बुद्ध कहने के साथ मुक्त शब्द का भी प्रयोग किया है। कुछ लोगो की ऐसी मान्यता है कि आत्मा को कर्मबध ही नहीं होता। जैन-शास्त्र यह बात नहीं मानते। जैनशास्त्र कहते हैं अगर आत्मा को कर्मबध न होता तो वह मुक्त किस प्रकार हो सकता है ? आत्मा मुक्त होता है, तो वह पहले कर्म-बन्धन से बन्धा हुआ होना ही चाहिए। यही बात स्पष्ट करने के लिए 'मुक्त' शब्द का प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार परिनिर्वाण को प्राप्त होने और सिद्ध में कोई अन्तर नहीं। परन्तु कुछ लोग निर्वाण का अर्थ निराला ही करते हैं। बौद्ध लोग निर्वाण का अर्थ दीप-निर्वाण के समान करते हैं। अर्थात् जैसे दीपक बुझ जाने के बाद वह

कुछ नहीं बच रहता, इसी प्रकार सिद्ध होने पर आत्मा नहीं बचता ! जैनशास्त्र इस मान्यता से सहमत नहीं हैं । अतः बौद्धों के कथन को अमान्य प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकारों ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त शब्द के साथ निर्वाण शब्द का भी प्रयोग किया है ।

‘निर्वाण शब्द के बाद शास्त्रकारों ने कहा है—‘सब दुःखों का अन्त करता है ।’ सिद्ध होने में और सब दुःखों का अन्त करने में तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नहीं है, फिर भी हमारे लोगों की गलत मान्यता का निवारण करने के लिए ही सब दुःखों का अन्त करने का भी विधान किया है । जैनशास्त्र कर्म को ही दुःख मानता है । श्रीभगवतीसूत्र में गौतम स्वामी और भगवान् के बीच इस विषय में प्रश्नोत्तर हुआ है । वह इस प्रकार है—

**दुःखी णं भते ! दुक्खेण पुट्ठे, किं अदुक्खो दुक्खेण पुट्ठे ?**

अर्थात्—हे भगवन् ! दुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है, अथवा अदुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा—दुःखी ही दुःख से स्पृष्ट होता है । अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता ।

इस प्रकार दुःखी को ही दुःख का स्पर्श होता है । यहाँ सब दुःखों का अन्त करने के लिए कहा गया है, उसका फलितार्थ भी कर्म से रहित होना है । ‘सब कर्मों को नष्ट कर देना अर्थात् सब दुःखों का अन्त कर देना । यहाँ दुःख शब्द से कर्म लेना चाहिए । दुःखों का अन्त होने का अर्थ कर्मों का अन्त होना है । इसीलिए श्रीभगवतीसूत्र में चौबीस

दण्डक के विषय में जो प्रश्नोत्तर किये गए हैं, उनमें भी यह कहा गया है कि सर्वार्थसिद्ध-विमान के देव भी दुःख से स्पृष्ट होते हैं, क्योंकि उनमें भी अभी तक कर्म शेष हैं। और जिनमें भावकर्म शेष नहीं रहते वे दुःख से स्पृष्ट नहीं होते।

कहने का आशय यह है कि सिद्ध होने के साथ आत्मा कर्मरहित हो जाता है और सब दुःखों से मुक्त हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न यह रह जाता है कि कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते हैं? कर्म स्वयं आत्मा के साथ लगते हैं या ईश्वर की प्रेरणा से? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—अगर ईश्वर की प्रेरणा से कर्मों का आत्मा के साथ लगना मान लिया जाये तो ईश्वर के स्वरूप में अनेक विकृतियाँ और बाधाएँ उपस्थित होती हैं। उदाहरणार्थ—एक आदमी नदी में डूब रहा हो और उसे बाहर निकाल सकवे वाला दूसरा कोई मनुष्य खड़ा-खड़ा देख रहा हो, तो क्या उसे दयालु कहा जा सकता है? जब ऐसे मनुष्य को भी दयालु नहीं कहा जा सकता तो फिर परम-दयालु कहलाने वाला परमात्मा क्या जीवों को कर्मबन्धन से बाँध कर ससार-सागर में डुबाएगा? वास्तव में ईश्वर कर्त्ता नहीं है और न वह किसी जीव को कर्म-बन्धन से बान्धता है। गीता में भी कहा है—

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभु ।

अर्थात्—प्रभु न लोक का कर्त्ता और न कर्मों को उत्पन्न करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अगर ईश्वर



कर्मों की प्रेरणा नहीं करता तो कर्म आत्मा के साथ किस प्रकार लगते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर के लिए एक उदाहरण लीजिए । कल्पना कीजिए, एक घड़ा तेल से भीगा हुआ है, दूसरा पानी से भीगा है और तीसरा घड़ा विलकुल कोरा है । रज को जान नहीं होता कि मैं किस घड़े के साथ किस प्रकार लगूँ ? फिर भी जो घड़ा तेल से भीगा है उसमें रज अधिक चिपकेगी । जो घड़ा पानी से भीगा है उस पर रज चिपकेगी तो सही, पर तेल के घड़े के बराबर नहीं । और कोरे घड़े पर रज गिरेगी मगर हवा से जैसे गिरेगी वैसे ही हवा से उड़ भी जाएगी । इसी प्रकार कर्मरज चौदह राजू लोक में—सर्वत्र भरी पड़ी है । परन्तु भावकर्मों में जितना चिकनापन होगा, उसी के अनुसार कर्म आत्मा के साथ लगेंगे । अगर भाव-कर्म में चिकनापन अधिक होगा तो कम अधिक लगेंगे, अगर चिकनापन कम होगा तो कर्मवर्गणा कम चिपकेगी । अगर आत्मा कोरे घड़े के समान भावकर्म के चिकनेपन से रहित होगा तो उसमें राग-द्वेष न होंगे तो कर्म चिपकेगे ही नहीं ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कर्म की व्यवस्था यदि इस प्रकार की है तो कर्मों को उदय में आने का और सुख-दुख रूप में परिणत होने का ज्ञान किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर यह है कि क्या दवा को ऐसा ज्ञान है कि मैं पेट में जाकर इस प्रकार फेरफार करूँ ? क्या दूध जानता है कि पेट में जाकर मैं इस प्रकार रसभाग और खलभाग में परिणत हो जाऊँगा ? ज्ञान न होने पर भी दूध और दवा अपना-अपना गुण बतलाते हैं

या नहीं ? किसी भूखे आदमी को दूध पिलाया जाये तो दूध पीते ही उसकी आँखों में कैसा तेज आ जाता है ! दूध और दवा को इस बात का ज्ञान नहीं है फिर भी उसमें शक्ति अवश्य है । इसी प्रकार कर्म को यह ज्ञान नहीं है कि मुझमें कैसी शक्ति विद्यमान है, परन्तु जब कर्म आत्मा को लगते हैं तब वे अपना गुण प्रकट करते ही हैं । भाव-कर्म के चिकनेपन के अनुसार कर्म उदय में आकर मुख या दुःख देते हैं ।

कहने का आशय यह है कि दुखी ही दुःख से स्पृष्ट होता है । कुछ लोगों का कहना है कि आत्मा को कर्मबधन ही नहीं होता, परन्तु जैनशास्त्र को यह कथन मान्य नहीं है । इसीलिए अर्थात् इस कथन का निषेध करने के लिए सिद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा परिनिर्वाण होने के साथ ही सब दुखों के अन्त होने का कथन किया गया है ।

कुछ लोग दुखों का अन्त करने का अर्थ, बेड़ी काटने के साथ पैर को भी काट डालने के भावार्थ में करते हैं । उनका कहना है कि दुखों के साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है मगर यह बात मिथ्या है । आत्मा दुःखों का अन्त होने पर सुखनिधान बन जाता है, नष्ट नहीं होता ।

भगवान् ने कहा है—व्यवदान से आत्मा अक्रिया-अवस्था प्राप्त करता है और फलस्वरूप सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर परिनिर्वाण पाता है तथा समस्त दुखों का अन्त करता है । भगवान् के इस कथन को हृदय में उतार कर हमें अपनी स्थिति का विचार करना चाहिए । अगर आप कर्मरहित हो गए होते तो अपने लिए किसी प्रकार के

उपदेश की आवश्यकता ही न रहती। परन्तु हम लोग अभी अपूर्ण हैं और इसीलिए हमें उपदेश सुनने-समझने की आवश्यकता है। श्री आचारागसूत्र में कहा है—जिसने पूर्णता प्राप्त कर ली उसे उपदेश सुनने की आवश्यकता नहीं रहती। अपन अभी अपूर्ण हैं, अतः उपदेश सुनकर हमें क्या करना चाहिए, इस बात का गहरा विचार करना आवश्यक है। ज्ञानी और अज्ञानी की रीति-नीति में बहुत ही भेद होता है। यह बात सामान्य उदहरण से समझाता हूँ। मान लीजिए, किसी वृक्ष पर एक ओर बन्दर बैठा है और दूसरी तरफ एक पक्षी बैठा है। इतने में तेज तूफान आया और वृक्ष उखड़ कर गिर पड़ा। ऐसी स्थिति में दुख किसे होगा? बन्दर को या पक्षी को? पक्षी तो अपने पखों के द्वारा ऊपर उड़ जायेगा परन्तु बेचारा बन्दर तो वृक्ष के नीचे कुचल जाएगा। यही बात ज्ञानी और अज्ञानी को लागू होती है। ससाररूपी वृक्ष पर ज्ञानी और अज्ञानी दोनों प्रकार के लोग बैठे हैं। परन्तु ससार वृक्ष नीचे गिरेगा तो ज्ञानीपुरुष पक्षी की भाँति ऊर्ध्वगमन करेंगे और अज्ञानी उसी ससारवृक्ष के नीचे दब कर दुखी हो जाएँगे।

इस कथन से यह सार लेना है कि हम शरीर में रहते हुए भी किस प्रकार निर्लेप रह सकते हैं। यह शरीर तो एक दिन छूटने को ही है। मरना सभी को है। परन्तु पक्षी के समान ऊर्ध्वगति करना ठीक है या बन्दर के समान पतित होना ठीक है, इस बात का विचार करो। कहेंगे तो यही कि ऐसे अवसर पर पक्षी को तरह ऊर्ध्वगति करना ही योग्य है, परन्तु पक्षी को पख उसी समय नहीं आ जाते। पहले से ही उसके पख होते हैं और इसी कारण आवश्यकता

पडने पर वह उड़ जाता है । इसी प्रकार ऐसे अवसर पर आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने की पहले से ही तैयारी करो । आग लगने पर कुआ खोदने से क्या लाभ ? अतः आत्मा को ऊर्ध्वगामी बनाने की तैयारी पहले से ही करो । शास्त्रकार हमें मोक्ष का मार्ग इसलिए बतलाते हैं कि हम पहले से ही मोक्ष के मार्ग पर चलने का अभ्यास कर सकें । शास्त्र में कही बात हृदय में उतार कर और उसी के अनुसार आचरण करने से ही आत्मा का कल्याण हो सकता है । आत्मा ही कर्मरहित होकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है और परमात्मा बन जाता है ।

कुछ लोग आत्मा को अलग और परमात्मा को अलग मानते हैं, परन्तु ज्ञानियों की तात्त्विक दृष्टि से आत्मा और परमात्मा समान ही है । कर्मबन्धन से रहित होकर यह आत्मा ही परमात्मा बन जाता है । शास्त्र में कहा है—जो आठ कर्मों से बद्ध है वह आत्मा है और आठ कर्मों से मुक्त हो गया वह परमात्मा है । शास्त्र के इस कथन के अनुसार हमारा आत्मा भी आठ कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो सकता है । अगर हम आत्मा का कल्याण करना चाहते हैं तो हमें कर्मबन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न करना चाहिए । कर्मबन्धन में आत्मा की परतन्त्रता और कर्ममुक्ति में आत्मा की स्वतन्त्रता रही हुई है । अतः आत्मा को कर्मबन्धन से मुक्त करके स्वतन्त्र बनाने का पुरुषार्थ करना चाहिए । यही सम्यक् पुरुषार्थ है ।



# उन्तीसवां बोल

## सुखसाता

अट्ठाईसवें बोल में व्यवदान के विषय में विचार किया गया है। व्यवदान अर्थात् पूर्वसंचित कर्मों का नाश करने से सुख-साता उत्पन्न होती है और सयम में शांति आती है। अगर सयम में शांति न आये तो समझना चाहिए कि व्यवदान अर्थात् संचित कर्मों का क्षय ठीक नहीं हुआ। अब सुख-साता के विषय में भगवान् महावीर से गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं।

### मूलपाठ

प्रश्न—सुहसाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सुहसाएणं अणुस्सुयत्तं जणयइ, अणुस्सुएणं जीवे अणुभडे, विगयसोगे चरित्तमोहणिज्जं कम्मं खवेइ ।

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! सुखसाता से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—सुखसाता अथवा सुखशय्या से जीव को मन

मे अनुत्सुकता उत्पन्न होती है। अनुत्सुकता से जीव को अनु-कम्पा होती है, अनुकम्पा से निरभिमानता होती है। निर-भिमानता से जीव शोकरहित होता है और शोकरहित होने से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करता है।

## विवेचन

‘सुहसाएण’ इस पाठ का एक अर्थ तो ‘सुखसाता’ होता है और दूसरा अर्थ प्राकृत व्याकरण के अनुसार ‘य’ का लोप न करने से ‘सुखशय्या’ भी होता है।

प्रश्न हो सकता है कि सुख-शांति तो सभी जीव चाहते हैं, और समय से भी जब सुख-शांति प्राप्त होती है तो फिर समय के लिए किस प्रकार की सुख-शांति का त्याग करना पड़ता है? और समय से किस प्रकार की सुख-शांति मिलती है? हमें यह देखना है कि यहाँ किस प्रकार की सुख-शांति का वर्णन किया गया है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है, कि २६वें बोल में अर्थात् सुखसाता के बोल में कालक्रम से पाठान्तर हो गया है। इस सम्बन्ध में टीकाकार का कहना है सुखसाता-सुखसाया-शब्द से यकार का लोप न किया जाय तो ‘सुखशय्या’ शब्द बनता है। ‘सुखशय्या’ शब्द का अर्थ है—सुख से सोना। सुखशय्या के चार भेद किये गये हैं। श्रीस्थानागसूत्र के चौथे स्थान में भगवान् ने कहा है—हे गौतम! सुखशय्या के चार भेद किये हैं।

पहला भेद मूड होकर निग्रन्थप्रवचन के प्रति निःशक रहता है, जो मुँडित होकर निग्रन्थ-प्रवचन के प्रति निःशक

रहता है वह सुखशय्या पर शयन करने वाला है । कितने ही लोग कहते हैं कि पहले कषायों का मुँडन करना चाहिए और फिर शिरोमुँडन करना चाहिए । अगर कषायों का भलीभाँति मुँडन कर लिया हो तो शिरोमुँडन न करने पर भी काम चल सकता है । इस प्रकार कहने वाले लोगो से पूछना चाहिए कि कषाय का मुँडन हुआ है अथवा नहीं, इस बात का निर्णय किस प्रकार हो सकता है ? कषाय का मुँडन होना अन्तरंग-भाववस्तु है । इसे व्यवहार में किस तरह जान सकते हैं ? अतएव यहाँ मुँड होने का सम्बन्ध शिरोमुँडन के साथ ही है

सर्वप्रथम व्यवहार साधा जाता है और उसके बाद निश्चय साधा जाता है । लोग अपने व्यवहार में तो यह बात भूलते नहीं किन्तु धर्म के काम में व्यवहार को ताक में रखकर निश्चय को ही प्रधान पद देते हैं । ऐसा करना एक प्रकार से धर्म को भूल जाना है । छद्मस्थ के लिए तो व्यवहार ही जानने योग्य है । निश्चय तो ज्ञानीजन ही जानते हैं । अतएव एकदम निश्चय को ही मन पकड़ बैठो, पहले व्यवहार की रक्षा करो ।

मान लो कि किसी मनुष्य में साधुता के सभी गुण मौजूद हैं, किन्तु उसका लिंग (वेष) साधु का नहीं है । तो क्या तुम उसे साधु मानकर वन्दना करोगे ? साधु का वेष न होने के कारण तुम उसे वन्दना नहीं करोगे । व्यवहार में वेष से ही साधु पहचाना जाता है । श्रीभगवतीसूत्र में कहा है—‘असुच्चा केवली’ अर्थात् केवलज्ञान तो हो गया है, पर वह अन्तरंग है । बाह्य वेष बदला नहीं है अथवा अवसर न होने के कारण बदला नहीं जा सका है, ऐसे

केवली को वन्दन करने के लिए श्रावक नहीं जाता। क्योंकि श्रावक उस भावमय वस्तु को जानता नहीं है। इस प्रकार शास्त्र में भी पहले व्यवहार की रक्षा की गई है। परन्तु आजकल अनेक लोग निश्चय के नाम पर व्यवहार का उच्छेद करते हैं। तुम कही पत्र लिखते हो तो साधुओं के विषय में लिखते हो कि अमुक जगह दस सत् विराजमान है। पर क्या तुम्हें खातिरी है कि उन दसों साधुओं में भावसाधुता है? इस प्रकार व्यवहार में जो साधु का वेष धारण करता है वही साधु माना जाता है। अगर साधुता होने पर भी गृहस्थ का वेष धारण करे तो वह गृहस्थ ही समझा जाता है। तात्पर्य यह है कि मुड़ होने का अर्थ शिरोमुड़न करना है। भगवान् कहते हैं कि जो मुड़ होकर निर्ग्रन्थप्रवचन के प्रति निश्चक होता है वह सुखशय्या पर सोने वाला है।

दूसरी सुखशय्या यह है कि, मुड़ होकर स्वलाभ में ही आनन्द मानना और परलाभ की अपेक्षा न रखना। जो व्यक्ति दूसरे के लाभ के आधार पर आनन्द मानता है, कहा जा सकता है कि वह दुःखशय्या पर सोने वाला है। आज तुम लोगो में जो दुःख नजर आ रहा है वह कहा से आया है? इस बात पर विचार करो। मनुस्मृति में कहा है—‘सर्वमात्मवश सुखम्।’ अर्थात् स्वाधीनता में ही सुख है। तुमने सुना होगा—‘पराधीन सपने सुख नाही।’ अर्थात् पराधीन पुरुष को स्वप्न में भी सुख नहीं हो सकता।

नीतिकारों का यह कथन जानते-बूझते हुए भी आज तुम लोग पराधीनता की बेड़ी में जकड़े हुए हो। स्वयं ही



तुमने पराधीनता बुलाई है और इस कारण आज अधिक दुःख फैला हुआ है । आज तुम्हारे अन्दर पराधीनता इतनी पेंठ गई है कि तुम्हें स्वाधीनता का विचार तक नहीं आता । मगर एक बात सदा ध्यान में रखना, सच्चा सुख सदैव स्वाधीनता में ही है । पराधीनता में सुख नहीं, दुःख ही है । इसलिए भगवान् ने कहा है - जो पुरुष स्व लाभ में ही आनन्द मानता है, पर लाभ की अपेक्षा नहीं रखता, वही पुरुष सुखशय्या पर शयन करने वाला है ।

जो गुरु भोजन तो खाता है परन्तु भोजन बनाना नहीं जानता, विचार करो कि वह मनुष्य सुखशय्या पर सोने वाला है या दुःखशय्या पर सोने वाला है ? बचपन में मैं भाई-बन्धों के साथ भगलेश्वर गया था । हम जितने जने गये थे, उनमें से सिर्फ एक आदमी रसोई बनाना जानता था, और किसी को भोजन बनाना नहीं आता था । उस जानकार आदमी ने रसोई बनाई और हम सब ने खाई । वापस लौटने पर हममें से एक लड़के ने अपनी माता से कहा - 'अब अपन कही बाहर चलेगे तो उस रसोई बनाने वाले आदमी को साथ ले चलेंगे ।

माता ने उत्तर में कहा - वह रसोई बनाने वाला तुम्हारे बाप का नौकर नहीं है कि तुम्हारे साथ आएगा ।

इस प्रकार जो मनुष्य पराधीन रहता है उसे कष्ट सहन करने पड़ते हैं और कटुक वचन भी सुनने पड़ते हैं । इसी कारण भगवान् ने जगत् के जीवों को सबोधन करके पराधीनता में दुःख और स्वाधीनता में सुख बतलाया है । सुखशय्या पर सोना अच्छा है और दुःखशय्या पर सोना दुःखदायक है ।

तुम जिन चीजों का सदैव व्यवहार करते हो और जिनके लिए तुम्हें अभिमान है, उनमें से कोई चीज ऐसी है जिसे तुम बना सकते हो ? अगर बना नहीं सकते तो यह तुम्हारी पराधीनता है या स्वाधीनता ? इस पर विचार करो । सिद्धान्त में कहा है - राजकुमार हो या श्रेष्ठिकुमार हो, प्रत्येक कुमार को ७२ कला सीखना आवश्यक है । ७२ कलाओं में जीवन सम्बन्धी सभी आवश्यकताओं को पूर्ण करने वाली वस्तुएँ बनाने की और उनका उपयोग करने की कला का समावेश हो जाता है । इन ७२ कलाओं को सीख लेने से जीवन पराधीन नहीं रहता स्वाधीन बन जाता है । यह आश्चर्य और दुःख का विषय है कि आज लोग पराधीन होते हुए भी अभिमान करते हैं । जीवन को स्वतंत्र बनाने के लिए कलाओं का ज्ञान सम्पादन करना आवश्यक है ।

श्री जातासूत्र में, मेघकुमार के अध्ययन में ७२ कलाओं का वर्णन किया गया है । उनमें एक कला अन्नविविध सम्बन्धी है । इस अन्नविविधकला में, अन्न किस प्रकार उत्पन्न करना, किस प्रकार सुरक्षित रखना और किस प्रकार पका कर खाना आदि का शिक्षण आ जाता है । अर्थात् कृषिकर्म के साथ ही कृषि द्वारा उत्पन्न हुई वस्तु की रक्षा और उसके उपयोग की विधि भी मालूम हो जाती है । शास्त्र में इस कला के भी तीन भेद किये गये हैं । सर्वप्रथम कला को सूत्र से जानना चाहिए, फिर जानी हुई कला को अर्थ से समझना चाहिए और अन्त में जानी तथा समझी हुई कला को अमल में लाना चाहिए ।

अगर कोई मनुष्य किसी कला को सूत्र से तो जानता है परन्तु अर्थ से नहीं समझता और कर्म से व्यवहार में

नहीं लाता तो सम्भना चाहिए कि वह मनुष्य कला सम्पादन में अभी अधूरा है । पूर्ण कलाकुशल मनुष्य वही कहा जा सकता है जो सूत्र से अर्थ से और कर्म से कला का सम्पादन करता हो । अन्नविधि की तरह वस्त्रविधि, गृहविधि आदि की भी कला है । ७२ कलाओं का सम्पादन करने वाला मनुष्य ही पहले कलाकुशल कहलाता था । आज तो कलाएँ प्रायः नष्ट हो गई हैं । आज लोग तैयार वस्तुएँ लेकर पराधीन बन रहे हैं, फिर भी तैयार वस्तु लेने में अपने आपको स्वाधीन और निष्पाप मानते हैं । लेकिन शास्त्र का यह कथन है कि परावलम्बी, पराधीन रहने वाला दुःखशय्या पर सोने वाला है और स्वावलम्बी-स्वाधीन रहने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है तुम लोग सुन्दर मकान में रहते हो, मिष्ट भोजन करते हो और अपने आपको सुखी मानते हो । परन्तु तुम उन वस्तुओं के लिए पराधीन हो, अतएव शास्त्रकार तो तुम्हें दुःखशय्या पर सोने वाला ही कहते हैं । शायद ही कोई भील ऐसा हो जो अपने भौंपड़ी बनाना न जानता हो । मगर तुम जिस मकान में रहते हो, उसे बना सकते हो ? अगर नहीं, तो स्वाधीन हो या पराधीन हो ? वास्तव में स्वाधीन मनुष्य ही सुखी है और पराधीन मनुष्य ही दुखी है । यही बात दृष्टि में रखकर युधिष्ठिर के महल की अपेक्षा व्यास की भौंपड़ी श्रेष्ठ गिनी गई है ।

कहने का आशय यह है कि स्वलाभ में आनन्द मानना और परलाभ की आशा न रखना ही साधु के लिए सुखशय्या है । सुखशय्या पर शयन करने से मन निराकुल बनता है । जो मनुष्य पराधीन परतन्त्र नहीं होता, उसी का मन व्याकु-

लतारहित होता है । परन्तु तुम लोग परतन्त्र हो और तुम्हारा मन व्याकुल रहता है, फिर भी अपने आपको सुखी मान रहे हो, यह आश्चर्यजनक बात है । मन को व्याकुल न होने देना ही सच्चा सुख है । बाह्य पदार्थों में सुख नहीं है । इस कथन का सार यह है कि मन की अव्याकुलता ही सुखशय्या है और मन की व्याकुलता ही दुःखशय्या है । सुन्दर महल में रहने पर भी और मिष्ट भोजन करने पर भी अगर मन व्याकुल हुआ तो दुःख उत्पन्न होता है । इसके विपरीत घास की झोपड़ी में रहते हुए भी और सूखा-सूखा भोजन करने पर भी अगर मन निराकुल हुआ तो सुख उत्पन्न होता है । इस प्रकार मन की व्याकुलता से दुःख पैदा होता है और मन की अव्याकुलता से सुख पैदा होता है । इसके समर्थन में आगम में कहा है -

त संथारं निसघ्नो मुणिवरो नद्वुरागविम्मोहो ।

पावइ ज मुत्तिसुह कुतो तं चक्कवट्ठीए ? ॥

अर्थात्-- घास के बिछौने पर सोने वाले, राग-द्वेष, मोह आदि को नष्ट करने वाले मुनिवर जिस आनन्द का उपभोग करते हैं, वह बेचारे चक्रवर्ती को भी कहाँ नसीब है ?

बाह्य वैभव कैसा ही क्यों न हो, मन अगर व्याकुल रहता है तो दुःख ही समझना चाहिए और बाह्य वैभव थोड़ा हो या न हो किन्तु मन अव्याकुल हो तो सुख ही है, ऐसा मानना चाहिए । इस कथन के अनुसार जो साधु पराधीन है और जिसका मन व्याकुल रहता है वह दुःखी है । जो साधु स्वाधीन है, जो अपना काम आप कर लेता

है, और जिसका मन अव्यक्त रहता है, वह सुखशय्या पर सोने वाला है—सुखी है ।

पहले के लोग ऐसे थे कि वे प्राण देना कबूल कर लेते थे परन्तु परतन्त्रता स्वीकार नहीं करते थे । किन्तु ससार परिवर्तनशील है, इस कारण अब वह क्रम बदल गया दिखाई देता है और ऐसा जान पड़ता है कि लोग परतन्त्रता में ही आनन्द मान रहे हैं ।

तीसरी सुखशय्या वतलाते हुए भगवान् कहते हैं— विषयो का ध्यान भी न करना । आनन्द के लिए विषयों का भोग करना तो दूर, उनका विचार भी न करना तीसरे प्रकार की सुखशय्या है ।

चौथी सुखशय्या यह कि चाहे जैसी आपत्ति आ पड़े तो भी आपत्ति के समय सहिष्णुतापूर्वक कष्ट सहन करना और प्रसन्नचित रहना । दुःख जब सिर पर आ पड़े तो इस प्रकार विचारना—अगर मैं इन दुःखों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करूँगा तो मुझे महान् निर्जरा का लाभ मिलेगा और जो दुःखपूर्वक सहन करूँगा तो कर्मबन्ध होगा । अनेक महात्मा तो कर्मों की उदीरणा करके दुःखों को समभाव से सहन करते हैं, तो फिर आई हुई विपत्ति से मुझे क्यों घबराना चाहिए ? जो दुःख आये हैं वे बिना किये तो आये नहीं । मैंने दुःखों को जन्म दिया, तभी वे आये हैं । अब, जब दुःख माथे आ पड़े है तो उन्हें समता के साथ और धैर्यपूर्वक सहना ही चाहिए । धैर्यपूर्वक दुःख सहन करने वाला सुखशय्या पर सोने वाला है, ऐसा समझना चाहिए ।

सुखसाता के पाठान्तर के विषय में यहाँ विचार किया

गया है । सूत्र में आये 'सुहसाया' शब्द के सुखसाता और सुखशय्या दोनों अर्थ किये जाते हैं । सुखशय्या के चार भेद करके उनका जो विवेचन किया गया है उस सब का सार यह है कि वास्तव में बाहर के पदार्थों में सुख नहीं है । सुख तो अन्दर ही है । सुख स्वाधीनता में है, पराधीनता में नहीं । जितनी-जितनी पराधीनता बढ़ती है, उतना ही दुःख बढ़ता जाता है । इसके विपरीत जो जितना स्वधीन है वह उतना ही सुखी है । लोग भी कहते तो हैं कि पराधीनता में दुःख और स्वाधीनता में सुख है, परन्तु व्यवहार में यह बात भूल जाते हैं । परतन्त्र रहना बालदशा है । जो तुम्हारे सच्चे हितैषी होंगे वे तुम्हें इस बालदशा से बाहर निकालने का ही प्रयत्न करेंगे । अगर तुम बालदशा से बाहर निकलना चाहते हो तो स्वाधीन बनने का प्रयत्न करो । तुम मोटर में बैठते तो हो पर मोटर बनाना या चलाना नहीं जानते । ड्राइवर मोटर चलाता है किन्तु वह गड्ढे में गिरा दे तो ? इस तरह इन बातों पर ध्यान रखकर पराधीनता हटाओ और स्वतन्त्र बनो । आखिर स्वतन्त्र बनने में ही सुख है ।

कदाचित् तुम कहोगे कि तैयार चीज लेने से तथा व्यवहार करने से पाप नहीं लगता । अतएव अपने हाथ में कोई चीज बनाने की अपेक्षा तैयार चीज लेना ही उचित है । इसके उत्तर में श्रावको का वर्णन करते हुए शास्त्र में कहा गया है—

‘धम्मिया, धम्मियाणदा, धम्मोवएसगा, धम्मेण च विज्जि कप्पमाणे विहरइ ।’

अर्थात्—श्रावक धर्मी होता है धर्म में आनन्द मानने वाला होता है, धर्म का उपदेशक होता है और धर्मपूर्वक आजीविका करता हुआ विचरता है ।

अब यहाँ विचार करो कि धर्मपूर्वक आजीविका करने का अर्थ क्या है ? क्या श्रावक भिक्षाचरी करता है ? श्रावक जब तक ग्यारह प्रतिमाधारी नहीं बनता तब तक भिक्षा नहीं कर सकता । भिक्षा के तीन प्रकार हैं । पहली सर्व-सम्पत्तिकारी भिक्षा, दूसरी वृत्तिभिक्षा, और तीसरी पौरुषघ्नी भिक्षा है ।

जो महात्मा सयम का पालन करते हैं और केवल सयम की रक्षा के लिए ही शरीर का निर्वाह करने जितनी भिक्षा लेते हैं वह भिक्षा सर्वसम्पत्तिकारी कहलाती है । भगवान् ने साधुओं को अपना शरीर नष्ट करने की आज्ञा नहीं दी है । साधु केवल शरीरनिर्वाह के लिए और धर्माचरण करने के लिए ही भिक्षा लेते हैं । यह भिक्षा सर्व-सम्पत्तिकारी होती है । जो भिक्षु सम्यक् प्रकार से साधुधर्म का पालन नहीं करता, उसे भिक्षा माँगने का अधिकार नहीं है । जो भिक्षु निरारभी और निष्परिग्रह रहकर साधुधर्म का बराबर पालन करता है, उसी को भिक्षा माँगने का अधिकार है । जो भिक्षु सयम का पालन नहीं करता और केवल पेटपूर्ति के लिए भिक्षा माँगता है, शास्त्र में उसे 'गामपिडोलिया' कहा है ।

कितनेक लोग साधुधर्म का पालन न करते हुए भी सिर्फ पेट भरने के लिए साधु बन जाते हैं । ऐसे पेटू साधु समाज के लिए भाररूप हैं । भारत में ऐसे साधु करीब

वावन लाख है । इन वावन लाख साधुओं के लिए भारत को कितना खर्च वहन करना पड़ता है ? लोगों से भिक्षा माग-माग कर खाना और साधुधर्म का पालन न करना बहुत ही बुरी बात है । बहुत-से लोग इन पैटू साधुओं को भी गुरु-बुद्धि से मानते हैं । यह विषमकाल का ही प्रभाव है । विषमकाल कैसा होता है, यह बतलाते हुए शास्त्र में कहा है - विषमकाल में साधुओं की पूजा नहीं होती और असाधुओं की पूजा होती है । परन्तु जो लोग आत्मा का कल्याण करना चाहते होंगे, वे तो साधुधर्म का बराबर पालन करने वाले साधु की ही पूजा करेंगे और उसी को गुरु के रूप में मानेंगे ।

दूसरी वृत्तिभिक्षा है । लूले, लगड़े या अपग लोग जो भीख मागते हैं, वह वृत्तिभिक्षा कहलाती है । इस वृत्तिभिक्षा की न निन्दा की गई है और न प्रशंसा ही की गई है । दयालु लोग दया करके देने हैं और दया को कोई बुरा नहीं कहता ।

तीसरी भिक्षा पौरुषघ्नी है । जो लोग हूँटपुँट है और जो मेहनत करके कमा सकते हैं, फिर भी मेहनत-मजूरी न करके केवल भीख माग कर खाते हैं, उनकी भिक्षा पौरुषघ्नी है ।

कहने का आशय यह है कि श्रावक धर्मपूर्वक आजीविका करने वाले कहे गए हैं । गृहस्थ श्रावक भिक्षा मागकर नहीं खाते, वरन् धर्मपूर्वक अपनी आजीविका करते हैं । श्रावक न्यायपूर्वक आजीविका करते थे और स्वतन्त्रतापूर्वक आजीविका करते थे । उस समय वे श्रावक स्वावलम्बी थे ।



तुम भी अपने पूर्वज श्रावको के चरण-चिह्नो पर चलकर स्वावलम्बी बनने का प्रयत्न करो । स्वावलम्बन में सुख है । परावलम्बन में दुःख है ।

ससार के सभी लोग सुखशय्या चाहते हैं किन्तु सुख के नाम पर दुःखशय्या को अपना रहे हैं और दुःखशय्या के नाम पर सुखशय्या छोड़ रहे हैं । परन्तु भगवान् ने कहा है कि जो स्वाधीन है और जिमका मन निराकुल है, वही सुखशय्या पर सो सकता है । मन को निराकुल बना देने से व्यावहारिक लाभ भी होता है और आध्यात्मिक लाभ भी होता है । पराधीन मनुष्य दुःखशय्या पर सोने वाला है । स्वाधीनता का मार्ग छोड़ देना और परतन्ता की वेड़ी में जकड़ जाना, सुखशय्या त्याग करके दुःखशय्या पर सोने के समान है ।

एक कहावत है 'अपनी नीद सेना और अपनी नीद जगना' इस कहावत का सार यही है कि कोई भी ऐसा काम न करना चाहिए कि जिसकी चिन्ता के मारे रात में नीद तक न आये, परन्तु ऐसा सत्कार्य करना कि जिससे सुखपूर्वक निद्रा आवे । इसी प्रकार भगवान् ने साधुओं के लिए कहा है कि— हे साधुओं ! तुम पेटपूर्ति के लिए साधु नहीं हुए हो, परन्तु आत्मोद्धार करने के लिए, स्व-पर कल्याण करने के लिए साधु हुए हो । अतएव दुःखशय्या का त्याग करके सुखशय्या पर सोने का प्रयत्न करो ।

सुखशय्या पर सोने के लिए तो कहा, परन्तु सुखशय्या पर सोने से जीव को क्या लाभ होता है ? ऐसा गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न पूछा । इस प्रश्न के उत्तर में

भगवान् ने फर्माया—‘मुहसाएण अणुम्मयत्त जणयइ’ अर्थात् हे गौतम ! सुखशय्या पर सोने से मन की अव्याकुलता उत्पन्न होती है अर्थात् मन में अनुत्मुक्ता पैदा होती है ।

मन में अव्याकुलता किम प्रकार उत्पन्न होती है, इसके लिए टीकाकार कहने हैं—जिन कारणों से मन में आघात—व्याघात या प्रत्याघात होता है, उन कारणों को तज देने से मन में निराकुलता या अनुत्मुक्ता पैदा होती है । मन में निराकुलता उत्पन्न होता ही सुखशय्या का परिणाम है । जैसे आग के कारण पानी में डूबल आता है और आग के ऊपर से पानी उतार लेने पर पानी नहीं डूबता, उसी प्रकार जिन कारणों से मन में चिन्ता या व्याकुलता बढ़ती है, उन कारणों का त्याग कर देने से मन निश्चित और निराकुल बन जाता है । मन के निराकुल बन जाने में मन की चंचलता घट जाती है अथवा मिट जाती है और फल-स्वरूप आत्मा को शांति मिलती है । जो पुरुष दूसरों की आशा या अपेक्षा नहीं रखता और देव सम्बन्धी कामभोगों की भी अभिलाषा नहीं करता, उस पुरुष के हृदय में किसी प्रकार की व्याकुलता नहीं रहती । जो मनुष्य विषयसुख को विषमय और तुच्छ मानता है, उसके मन में व्याकुलता—व्याकुलता रह नहीं पाती ।

विषयसुख की इच्छा न करने से मन अनुत्मुक्त बनता है । मन अनुत्मुक्त बनने से अर्थात् विषयसुख की इच्छा न होने में हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न होती है । अनुकम्पा की व्याख्या करते हुए कहा है—‘अनुकूल कपण-चेष्टन अनुकपा ।’ अर्थात् दूसरे का दुःख देखकर काँप उठना और दूसरे के

दुःख को अपना ही दुःख समझना अनुकम्पा है । इस प्रकार की अनुकम्पा विषय-सुख के इच्छुक के मन में नहीं उत्पन्न होती । विषयसुख की इच्छा न रखने वाले को ही ऐसी अनुकम्पा उपन्न होती है । विषयसुख का अभिलाषी तो अपने विषयसुख को प्राप्त करने का ही प्रयत्न करता है, फिर दूसरे लोग चाहे जीए, चाहे मरे । जो विषयसुख का त्यागी है, उसके हृदय में दूसरे को दुःखी देखकर अनुकम्पा पैदा होती है दूसरों के दुःख से उसका हृदय काप उठता है ।

आजकल तो दयालु पुरुष को कायर कहते हैं, परन्तु शास्त्र के अनुसार हृदय में अनुकम्पा-दया होना सद्गुण है । जिन लोगों में विषयसुख की लालसा नहीं रहती उन्हीं में यह सद्गुण पाया जाता है । जिनमें विषयसुख भोगने की लालसा बनी हुई है, उनमें दया या अनुकम्पा नहीं होती । उदाहरणार्थ—कोई कसाई बकरे को मारता हो तो उस समय तुम्हारे हृदय में दया उत्पन्न हो यह स्वाभाविक है । परन्तु उस कसाई को दया नहीं, क्योंकि उसे बकरे का मांस खाने की लालसा है । अगर उसमें बकरे का मांस खाने की लालसा न होती तो उसके हृदय में भी अनुकम्पा या दया उत्पन्न होती । अनुकम्पा के विषय में शास्त्र में भी कहा है—

एव खु णाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचणं .

अहिंसा समय चेव एयावत्त वियाणिया ॥

— सूयगडागसूत्र ।

अर्थात्—किसी भी जीव की हिंसा न करना ही शास्त्र का सार है । ज्ञानीजन अहिंसा-अनुकम्पा को ही सिद्धान्त का सार कहते हैं । शास्त्र सुनने पर भी जिस मनुष्य के

हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न न हुई, अतः जो निर्दय होकर अपने घर में भी अनुकम्पा का व्यवहार नहीं करता, उसने शास्त्र नहीं सुना बल्कि समझना चाहिए, उसने शस्त्र का प्रयोग करना सीखा है ।

मेघकुमार के शासीय उदाहरण के अनुसार एक खरगोश को बचाने के खातिर हाथी एक पैर ऊँचा करके बस पहर तक खड़ा रहा था । बीस पहर बाद जब दावानल शांत हुआ और झड़ल में आये हुए जीव बाहर चले गए तो हाथी अपना पैर नीचे रखने लगा । मगर बीस पहर तक पैर ऊँचा रखने के कारण उसका पैर रह गया था और वह जमीन पर गिर पड़ा । गिर जाने पर भी हाथी ने अनुकम्पा के विषय में तनिक भी बुरा विचार न किया । उसने यह नहीं सोचा कि खरगोश के साथ मेरा क्या सम्बन्ध था कि उसे बचाने के लिए मैंने पैर ऊपर रखकर इतना कष्ट सहन किया ! भगवान् ने कहा है—हे मेघकुमार ! इस प्रकार की अनुकम्पा रखने के कारण ही तू हाथी-पर्याय से छूटकर राजा श्रेणिक के घर राजकुमार रूप में जन्मा और समय धारण कर सका है ।

कहने का आशय यह है कि जो मनुष्य विषय-सुख के प्रति निस्पृह होता है, उसी में अनुकम्पा का होना देखा जाता है । लोग जो बारीक, चिकने और मुलायम वस्त्र पहनते हैं, उनमें लगाई जाने वाली चर्वी के लिए कितने जीव मारे जाते हैं ? किसी दिन इस बात पर विचार किया है ? विचार क्यों नहीं करते ? इसीलिए कि उन रेशमी और मुलायम वस्त्रों के प्रति तुम निस्पृह नहीं हो ! जबतक

विषयलालसा छूटती नहीं तब तक अनुकम्पा उत्पन्न होती नहीं । जब प्राणीमात्र के प्रति आत्मभाव उत्पन्न होता है तभी अनुकम्पा उत्पन्न होती है । हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न करने के लिए परमात्मा से यही प्रार्थना करनी चाहिए—

ऐसी मति हो जाय, दयामय, ऐसी मति हो जाय ।

श्रीरों के सुख को सुख समझूँ, सुख का कष्ट उपाय ॥

अपने दुःख सब सहूँ किन्तु परदुःख नहीं देखा जाय ॥

अर्थात् हे प्रभो ! मुझमें ऐसी सुबुद्धि उत्पन्न हो कि मैं दूसरों के दुःख को अपना ही दुःख मानूँ और दूसरों के सुख को अपना सुख समझूँ । इस प्रकार की सन्मति सब में उत्पन्न हो जाए तो विश्वप्रेम फैल जाए । विश्वप्रेम की जननी अनुकम्पा है । अनुकम्पा पैदा करने के लिए विषय-सुख के प्रति निस्पृह बनो । जब तुम्हारे हृदय में से विषय-सुख की लालसा दूर होगी, तब हृदय में अनुकम्पा के अकुर फूट निकलेंगे । उस समय तुम दयागत्र बनने के बदले दयामय बन जाओगे । विश्वप्रेम उत्पन्न करने के लिए तुम दूसरों के सुख में सुख और दुःख में दुःख मानोगे तो स्व-पर का कल्याण ही करोगे ।

किसी भी कार्य का फल जान लेने से उसमें जल्दी प्रवृत्ति होती है । जब तक किसी कार्य का फल न जान लिया जाये तबतक किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती । व्यवहार में भी देख-भाल कर ही प्रवृत्ति की जाती है । जब तुम्हें खातिरी होती है कि हम जो रुपया दे रहे हैं वह व्याज सहित वापिस मिल जायेगा, तो तुम रुपया देने में ढील नहीं करते । इसके विपरीत अगर तुम्हें मालूम हो जाये

कि हमारा दिया हुआ रुपया वसूल नहीं होगा, तो इस दशा में तुम रुपया नहीं दोगे, यह स्वाभाविक है। महान् से महान् चक्रवर्ती भी फल की आशा से ही अपनी सम्पदा का त्याग करते हैं। इसी कारण भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है कि विषय-सुख की आसक्ति का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है—विषयसुख का त्याग करने से विषयभोग के प्रति अनुत्सुकता उत्पन्न होती है, अर्थात् विषयसुख भोगने की उत्सुकता या इच्छा नहीं रहती। जिसने आम खाने का त्याग कर दिया है उसे आम खाने की उत्सुकता नहीं रहती। इसी प्रकार विषय-सुखों का त्याग करने से विषयों के प्रति उत्सुकता या चंचलता नहीं रहती। त्याग न किया जाये तो उत्सुकता या चंचलता बनी ही रहती है।

रामायण के कथनानुसार जब सूपणखा ने रावण के सामने राम और लक्ष्मण के गुणों का वर्णन किया तो रावण के हृदय में किसी तरह की उत्सुकता या चंचलता उत्पन्न न हुई परन्तु जब उसने सीता के रूप का वखान किया तो रावण के हृदय में इस प्रकार की चंचलता पैदा हो गई कि जो सीता ससार की स्त्रियों में शिरोमणि बतलाई जाती है, उसे मुझे देख तो लेना चाहिए। इसी चंचलता के कारण घोर अनर्थ हुआ। रावण अगर पहले में ही विषयसुख या परस्त्री का त्यागी होता तो उसके हृदय में इस प्रकार की चंचलता पैदा न होती और तब ऐसा अनर्थ भी क्यों होता ?

इस प्रकार विषयसुख का त्याग करने में चंचलता

मिट जाती है। चंचलता हट जाना और अनुत्सुकता पैदा होना त्याग का लक्षण है। त्याग करने पर अगर चंचलता या उत्सुकता बनी हुई हो तो समझना चाहिए कि सच्चा त्याग अभी हुआ ही नहीं है। सच्चा त्याग तब समझना चाहिए जब हृदय में तनिक भी चंचलता न रह जाये। भगवान् का कथन है कि चंचलता मिट जाने से और स्थिरभाव उत्पन्न होने से हृदय में अनुकम्पा उत्पन्न होती है। अनुकम्पा कितना श्रेष्ठ गुण है, इस विषय में कहा गया है--

दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान।

अर्थात् दया-अनुकम्पा ही धर्म का मूल है। अनुकम्पा को सभी ने धर्म बतलाया है। जिसमें विषयसुख की लालसा नहीं होती उसे ही इस श्रेष्ठ धर्म की प्राप्ति होती है।

साधारण तौर पर प्रत्येक व्यक्ति में, न्यूनाधिक परिमाण में अनुकम्पा का गुण विद्यमान रहता है। परन्तु जब स्वार्थ के कारण हृदय में चंचलता आती है तब अनुकम्पा अदृश्य हो जाती है। उदाहरणार्थ—गाय किसी को यहा तक कि कसाई को भी खट्टा दूध नहीं देती। फिर भी जब कसाई के दिल में स्वार्थ के कारण तथा विषयलालसा के कारण चंचलता उत्पन्न होती है तब वह निर्दयता के साथ गाय को कत्ल कर डालता है। विषयलालसा के कारण हृदय में चंचलता उत्पन्न होती है और चंचलता के कारण अनुकम्पा का भाव कम हो जाता या सर्वथा नष्ट हो जाता है, ऐसा क्रम है।

विचार करो कि तुम्हारे दिल में पशुओं के प्रति सच्ची दया है या केवल दया का दिखावा मात्र है? अगर तुम्हारे

हृदय में सच्ची दया हो तो क्या तुम ऐसी वस्तुओं का व्यवहार कर सकते हो जिनके खतिर पशुओं की हत्या की जाती है ? तुम यो तो गाय को नहीं मारोगे परन्तु तुम्हारे सामने गाय के चमड़े के बने सुन्दर और मुलायम बूट रखे जाएँ अथवा गाय की चर्बी वाले कपड़े तुम्हें दिये जाएँ तो उन्हें उपयोग करने के लिए लोगे या नहीं ? प्रत्यक्ष में तो तुम गाय को माता कहोगे, मगर यह नहीं देखोगे कि तुम्हारे लिए गाय माता की हालत कितनी भयंकर हो रही है ? क्या कभी तुमने सोचा है कि तुम जो मुलायम बूट पहनने हो वे किसके चमड़े के बनते हैं ?

तुम कह सकते हो कि जूता पहने बिना काम नहीं चलता, मगर भारतवर्ष में पहले चमड़े के खातिर कभी भी पशुओं का घात नहीं किया जाता था । जो पशु स्वाभाविक मौत से मर जाते थे, उनकी चमड़े के जूते बनाए जाते थे । आजकल तो विशेष तौर से चमड़े के लिए ही पशु मारे जाते हैं । इतना ही नहीं, वरन् चमड़े को सुन्दर और मुलायम बनाने के उद्देश्य से पशुओं की बड़ी ही निर्दयता के साथ हत्या की जाती है । क्या तुम लोगो ने ऐसे सुन्दर और मुलायम चमड़े की बनी चीजों का त्याग किया है ? अगर त्याग नहीं किया तो क्या तुम्हारे दिल में पशुओं के प्रति दया का भाव है ?

कल्पना करो, तुम्हारे सामने द्रौपदी को नग्न किया जाये और उसके शरीर पर से उतारे हुए वस्त्र, कोट, कमीज बनवाने के लिए तुम्हें दिये जाएँ तो क्या तुम उन वस्त्रों को हाथ भी लगाओगे ? तुम उस समय यही कहोगे कि जिन



वस्त्रों के लिए द्रौपदी माता को नग्न किया गया है, उन्हें हम छू भी कैसे सकते हैं ? इस प्रकार कह कर तुम उन वस्त्रों का उपयोग नहीं करोगे । मगर तुम्हारी मातृभूमि को हानि पहुंचाने वाले वस्त्र तुम्हें दिये जाते हैं, उन्हें लेने का तुमने त्याग किया है ? तुमने हिंसामूलक वस्त्रों का और चमड़े का त्याग नहीं किया, इसका एक प्रधान कारण यही है कि अभी तक तुम्हारे हृदय में अनुकम्पा का भाव ही उदित नहीं हुआ है । अगर सच्ची अनुकम्पा तुम्हारे हृदय में उत्पन्न हो जाती तो ऐसी हिंसामूलक वस्तुओं का तुम स्पर्श तक न करते ।

भगवान् कहते हैं कि हृदय में अनुकम्पा का भाव पैदा होने से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता आती है । अनुकम्पा से हृदय नम्र बन जाता है और नम्र हृदय में अभिमान उत्पन्न नहीं होता । अनुकम्पाशील मनुष्य में 'मैं बड़ा हूँ, मैं यह काम कैसे करूँ ?' इस प्रकार का मिथ्या अभिमान नहीं होता । अनुकम्पा वाला मनुष्य दूसरे के दुःख को अपना ही दुःख मानता है और दूसरे का दुःख मिटाना अपना दुःख मिटाना समझता है । वही सच्ची अनुकम्पा है जिसमें अभिमान या लालसा को स्थान न हो । जहां किसी भी प्रकार की लालसा होती है वहाँ विशुद्ध अनुकम्पा नहीं ।

आजकल कितने ही लोग अनुकम्पा के नाम पर दान तो करते हैं परन्तु साथ ही साथ अपने आप को दानी कहलाने के लिए अखबारों में, बड़े-बड़े अक्षरों में, अपने दान की घोषणा छपवाते हैं । क्या यह अनुकम्पा और दान है ? वास्तव में देखा जाये तो सच्ची अनुकम्पा न होने के कारण

ही प्रसिद्धि की इच्छा रहती है । हृदय में सच्ची अनुकम्पा हो तो नाम की इच्छा नहीं होती ।

आनन्द श्रावक के पास बारह करोड़ स्वर्ण-मोहरों का धन था । उनमें से वह चार करोड़ स्वर्ण मोहरों से व्यापार करता था । उसके पास चालीस हजार गायें थी । जब उसने भगवान् के दर्शन किये तो भगवान् का उपदेश सुनकर उसने यह प्रतिज्ञा कर ली कि मैं अब धन आदि की वृद्धि नहीं करूँगा । इस प्रतिज्ञा के पश्चात् भी उसका चार करोड़ मोहरों का व्यापार चालू रहा और चालीस हजार गायें भी बनीं रही । गायों में वृद्धि होना स्वाभाविक है, फिर भी उसका त्याग भग्न नहीं हुआ यह एक विचारणीय प्रश्न है । शास्त्र में ऐसा कोई स्पष्टीकरण नहीं किया गया है कि किस कारण उसकी सम्पत्ति में और उसकी गायों में वृद्धि नहीं हुई ? और कैसे उसका त्याग भग्न नहीं हुआ ? परन्तु इसके कारण पर विचार करने में मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि आनन्द श्रावक बिना मुनाफे का व्यापार करता था अथवा बड़ी हुई सम्पत्ति दान में देता था । उसे कोई मनुष्य गरीब दिखाई देता तो उसे गाय दान कर देता था । इस प्रकार उसकी सम्पत्ति तथा गायों का परिमाण भी बराबर रहता और त्याग की रक्षा के साथ दान आदि धर्म का भी पालन हो जाता था ।

कहने का आशय यह है कि आनन्द श्रावक ने दानों होते हुए भी दानियों की नामावली में अपना नाम प्रसिद्ध नहीं किया था । इतना ही नहीं वरन् शास्त्र में उसके इस दान का वर्णन तक नहीं किया गया है । मगर यह बात

सहज ही समझी जा सकती- है कि जब उसका त्याग भी सुरक्षित रहा और व्यापार आदि की मर्यादा भी बराबर कायम रही, तब बढी हुई सम्पत्ति का सिवाय दान के और क्या उपयोग हो सकता था ? जिम मनुष्य मे सच्ची अनुकम्पा होती है, वह दान भी गुप्त रूप से ही देता है और दान देकर अभिमान नहीं करता । वह अपने नाम की प्रसिद्धि भी नहीं चाहता ।

तुम लोग गाय की सेवा करके दूध पीते हो या, बाजार से खरीदा हुआ पीते हो ? तुम गाय की सेवा किये बिना ही दूध पीते हो, फिर भी अपने आपको अनुकम्पा वाला कहलवाते हो ? क्या बिक्री का दूध पीने मे अनुकम्पा है ? शास्त्रकार इसे अनुकम्पा नहीं कहने । ऐसी दशा मे भी आज किसके घर मे गायें है ? आज कौन मोल खरीद कर दूध नहीं पीता ? स्त्रियाँ तो कह देगी कि हम अपनी सेवा करे या गायो की सेवा करे ? हम अपना सिंगार सजे अथवा गायो का गोबर और पेशाब उठाए ? जहाँ ऐसी भावना है वहाँ अनुकम्पा का गुजारा कहा ? सुना है, गाँधीजी ने भारत की गायो की दुर्दशा देखकर गाय का दूध पीना ही छोड़ दिया है । तुम लोग गाय का दूध तो पीते हो, मगर गाय की सेवा नहीं करते, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि तुममे अनुकम्पा का अभाव है ।

कहने का आशय यह है कि विषयसुख की लालसा का त्याग करने से अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा से अनुद्धतता अर्थात् निरभिमानता पैदा होती है । जिसमे निरभिमानता प्रकट हो जाती है उसमे किसी प्रकार का

शोक, सताप या किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती । जिसमे सच्ची अनुकम्पा होती है उसे हानि होने पर चिन्ता नहीं होती । मान लीजिए, किसी व्यापारी ने रुई की गाँठों का बीमा उतरा लिया है । अब कदाचित् उन गाँठों में आग लग जाये तो क्या उस व्यापारी को चिन्ता होगी ? वह तो यही कहेगा कि मेरा क्या बिगडा ? मैंने तो पहले ही बीमा उतरा लिया है ! इसी प्रकार जिसके हृदय में सच्ची अनुकम्पा होती है वह मनुष्य अपनी समस्त वस्तुएँ परमात्मा को समर्पित कर देता है और इसी कारण किसी भी वस्तु का नाश होना पर भी उसे चिन्ता नहीं होती । इतना ही नहीं, अपने प्राण तरु चले जाने पर भी अनुकम्पाशील मनुष्य को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं होती । कहा भी है—

चाहत जीव सब जग जीवन,  
 देह समान नहीं कछु प्यारी ।  
 संयमवन्त मुनीश्वर को,  
 उपसर्ग हुए तन नाशन हारो ।  
 तो चिन्तै हम आतमराम,  
 अखड्क बाधित रूप हमारो ।  
 देह विनाशिक सो हम तो —  
 नहिं शुद्ध चिदानन्द रूप हमारो ॥

समार का कोई भी प्राणी अपना जीवन नष्ट नहीं करना चाहता, क्योंकि देह सभी को प्रिय है । देह के बराबर अन्य कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है । ऐसा होने पर भी संयमवन्त मुनीश्वर देहान्तकारी कष्ट उपस्थित होने पर भी चिन्ता नहीं करते । वे इसी प्रकार विचार करते हैं कि—

हमारा देह अलग है और आत्मा अलग है । गजसुकुमार मुनि के मस्तक पर आग रखी गई, स्कदक मुनि की चमड़ी उधेड़ ली गई और पाच सौ मुनि कोल्हू में पेर दिये गये, फिर भी उन मुनीश्वरों को किसी प्रकार की चिन्ता न हुई । कारण यह है कि वे मुनिराज आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानते थे । इस प्रकार शोकरहित होने का कारण अनुकंपा है । अनुकंपा होने के कारण ही मुनीश्वरों को देहान्त कष्ट पड़ने पर भी चिन्ता पैदा न हुई । उन्होंने अपना शरीर पहले ही परमात्मा को समर्पित कर रखा था ।

सुख-सात्ता के प्रश्नोत्तर में भगवान् ने कार्य कारण-भाव बतलाया है । भगवान् ने कहा है - विषयलालसा न होने से अनुत्सुकता (विषयो के प्रति अनासक्ति) उत्पन्न होती है, अनुत्सुकता से अनुकम्पा उत्पन्न होती है और अनुकम्पा में जीव में निरभिमानता आती है, निरभिमानता से जीव शोकरहित बनता है और शोकरहित होने से चारित्रमोहनीय कर्म का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है ।

शास्त्र में मोहनीय कर्म के दो भेद कहे गये हैं - दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय । दर्शनमोहनीय तो वस्तु का सम्यक् स्वरूप समझने में बाधक होता है और चारित्रमोहनीय कर्म वस्तु का स्वरूप समझ लेने पर भी उस समझ के अनुसार आचरण करने में बाधक बनता है । वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझ लेने पर भी चारित्रमोहनीय कर्म के उदय से तदनुसार आचरण नहीं किया जा सकता । चारित्रमोहनीय कर्म नष्ट होने पर ही चारित्र प्रकट होता है ।

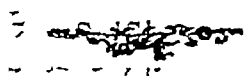
अगर सकल्प-विकल्प न मिटे तो समझना चाहिए कि अभी तक चारित्रमोहनीय कर्म नष्ट नहीं हुआ है। सकल्प-विकल्प के मिट जाने पर वास्तविक चारित्र प्रकट होता है। जब चारित्रमोहनीय कर्म का पूर्ण रूप से नाश हो आता है, तब आत्मा सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है। इस प्रकार विषयलालसा को दूर करने से आत्मा गुणक्रमारोहण करके सिद्धि प्राप्त करता है। यही मुक्ति का मार्ग है। शास्त्रकार कहते हैं कि मोक्ष मार्ग सरल तो है मगर इस मार्ग पर जाने के लिए विषयलालसा आदि जो काँटे बिखरे पड़े हैं, उन्हें सर्वप्रथम दूर करने की आवश्यकता है। विषयलालसा को जीत लिया जाये तो मुक्ति के मार्ग पर चलना सरल है। गीता में भी कहा है—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भारतर्षभ !

अर्थात् हे अर्जुन ! पहले इन्द्रियो की विषयलालसा जीत लो। विषयलालसा को जीत लेने से तुम सभी पर विजय प्राप्त कर सकोगे।

मुक्ति मार्ग पर जाने के लिए, तुम लोग भी सर्वप्रथम इन्द्रियो को जीतने का प्रयत्न करो। अगर तुम प्रारम्भ से इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करोगे तो क्रमशः मुक्ति भी प्राप्त कर सकोगे। परम्परा से मिलने वाले फल को प्राप्त करने के लिए सब से पहले प्रारम्भिक कार्य करना चाहिए।

किसान को फल तो बाद में प्राप्त होता है, पर बीज के आरोपण करने का कार्य इसे पहले ही करना पड़ता है । अगर वह प्राथमिक कार्य-बीज का आरोपण न करे तो धान्य का लाभ उसे कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम विषयलालसा पर विजय पाना आवश्यक है । अगर विषयलालसा जीत ली जाये और चंचलता का त्याग कर जीवन में अनुकम्पा उतारी जाये तो आत्मा का कल्याण हो और मुक्ति का मार्ग भी खुल जाये ।



# तीसवां बोल

## अप्रतिबद्धता

उनतीसवें बोल में सुखशय्या अथवा सुख साता के सम्बन्ध में काफी विचार किया जा चुका है । अब यह विचार करना है कि सुखशय्या पर कौन सो सकता है या सुखसातापूर्वक कौन रह सकता है ? जिस व्यक्ति में विषय-लोलुपता नहीं है और जिसमें प्रतिबद्धता अर्थात् आसक्ति नहीं है, वही व्यक्ति सुखशय्या पर सो सकता है । अतएव गौतम स्वामी भगवान् से यह प्रश्न करते हैं कि अप्रतिबद्धता अर्थात् अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न—अपडिबद्धयाएणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—अपडिबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ, निस्संगत्तेण जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया वा राओ वा असज्जमाणे अपडिबद्धे आवि विहरइ ॥ ३० ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?



उत्तर—अनासक्ति से जीव नि सग अर्थात् राग-द्वेष-ममत्व से रहित होता है, और नि सग होने से उसका चित्त दिन-रात धर्मध्यान में एकाग्र रहता है और एकाग्र होने से वह अनासक्त होकर अप्रतिबद्ध विचरता है ।

## व्याख्यान

भगवान् के इस कथन का अर्थ करते हुए टीकाकार कहते हैं कि साधु मासकल्पादि से अधिक किसी स्थान पर नहीं रहता । वह अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है । सच्चा साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी प्रकार का प्रतिबध नहीं रखता । 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार द्रव्य से, 'यह क्षेत्र मेरा है' इस प्रकार क्षेत्र से, कालमर्यादा का उल्लघन करके रहने में काल से और किसी के प्रति मन में राग-द्वेष रखकर भाव से, साधु प्रतिबध नहीं रखता । इस प्रकार साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी प्रतिबन्धों से रहित होकर अनासक्त-अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है ।

टीकाकार ने तो मूल सूत्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है, परन्तु यह बात भलीभाँति हृदय में उतारने के लिए उसका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है ।

सामान्य रूप से तो अप्रतिबद्धता बहुत ही मामूली सी बात मालूम होती है, परन्तु गहरा उत्तर कर विचार किया जाये तो अप्रतिबद्धता शब्द में और उसके भाव में गूढ़ अर्थ छिपा है । अप्रतिबद्धता का अर्थ है, किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति न रखना । जो व्यक्ति पकज के समान

# तीसवां बोल

## अप्रतिबद्धता

उनतीसवें बोल में सुखशय्या अथवा सुख साता के सम्बन्ध में काफी विचार किया जा चुका है । अब यह विचार करना है कि सुखशय्या पर कौन सो सकता है या सुखसातापूर्वक कौन रह सकता है ? जिस व्यक्ति में विषय-लोलुपता नहीं है और जिसमें प्रतिबद्धता अर्थात् आसक्ति नहीं है, वही व्यक्ति सुखशय्या पर सो सकता है । अतएव गौतम स्वामी भगवान् से यह प्रश्न करते हैं कि अप्रतिबद्धता अर्थात् अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न—अपड्विबद्धयाएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—अपड्विबद्धयाएणं निस्संगत्तं जणयइ, निस्संगत्तेण जीवे एगे एगग्गचित्ते दिया वा राश्रो वा असज्जमाणे अपड्विबद्धे आवि विहरइ ॥ ३० ॥

### शब्दार्थ

प्रश्न— भगवन् ! अनासक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—अनासक्ति से जीव निःसग अर्थात् राग-द्वेष-ममत्व से रहित होता है, और निःसग होने से उसका चित्त दिन-रात धर्मध्यान में एकाग्र रहता है और एकाग्र होने से वह अनासक्त होकर अप्रतिबद्ध विचरता है ।

### व्याख्यान

भगवान् के इस कथन का अर्थ करते हुए टीकाकार कहते हैं कि साधु मासकल्पादि से अधिक किसी स्थान पर नहीं रहता । वह अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है । सच्चा साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं रखता । 'यह वस्तु मेरी है' इस प्रकार द्रव्य से, 'यह क्षेत्र मेरा है' इस प्रकार क्षेत्र से, कालमर्यादा का उल्लंघन करके रहने में काल से और किसी के प्रति मन में राग-द्वेष रखकर भाव से, साधु प्रतिबन्ध नहीं रखता । इस प्रकार साधु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव सम्बन्धी प्रतिबन्धों से रहित होकर अनासक्त-अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है ।

टीकाकार ने तो मूल सूत्र का इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है, परन्तु यह बात भलीभाँति हृदय में उतारने के लिए उसका विशेष स्पष्टीकरण करना आवश्यक है ।

सामान्य रूप से तो अप्रतिबद्धता बहुत ही मामूली सी बात मालूम होती है, परन्तु गहरा उत्तर कर विचार किया जाये तो अप्रतिबद्धता शब्द में और उसके भाव में गूढ़ अर्थ छिपा है । अप्रतिबद्धता का अर्थ है, किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति न रखना । जो व्यक्ति पकज के समान

जगत् के समस्त पदार्थों से अलिप्त रहता है, वह अप्रतिबद्ध या अनासक्त कहलाता है । पकज अर्थात् कीचड़ में उत्पन्न होने वाला कमल । कमल कीचड़ में पैदा होकर भी कीचड़ से अलिप्त रहता है । अगर कमल कीचड़ से प्रतिबद्ध हो जाये तो उसका विकास ही न हो - वह मड जाये । इसी प्रकार वस्तु के ससर्ग से उत्पन्न होने वाले प्रतिबन्ध से आत्मा का विकास रुक जाता है और जब आत्मा अप्रतिबद्ध होकर विहार करता है तो उसका अधिकाधिक विकास होता है ।

शास्त्र के इस कथन से तुम अपने विषय में विचार कर सकते हो कि तुम्हें यह मनुष्य जन्म किस प्रकार मिला है और किस प्रकार इसका सदुपयोग करना चाहिए ? विचार करो कि यह मनुष्यभव तुम्हें प्रतिबन्ध को मजबूत करने के लिए मिला है या प्रतिबन्ध तोड़ने के लिए मिला है ? श्री सूत्रकृतांग सूत्र में इस विषय में कहा है—

जैसि कुले समुपपण्णे जैसि वा सर्वेसे नरे ।

ममाइ लुप्पइ वाले अन्नमन्नेण मुच्छिण्णं ।।

— सु. १-अ. १-उ १-गा. ४ ।

इस सूत्र के अनुसार आत्मा जिस कुल में उत्पन्न होता है अथवा जिसके साथ निवास करता है, उसी के साथ ममत्व उत्पन्न हो जाता है । इस प्रकार ममता उत्पन्न होने के दो कारण हैं—एक जन्म और दूसरा सहवास । तात्पर्य यह है कि एक तो जन्मजनित स्नेह उत्पन्न होता है और सगजनित । यह दोनों प्रकार के स्नेह-ममत्व के कारण हैं । शास्त्र कहता है, दोनों प्रकार के स्नेह से उत्पन्न होने वाला ममत्व आत्मा के लिए बधनकारक है । आत्मा अजर-अमर

है । उसका कोई बन्धन होना ही नहीं चाहिए ।

ज्ञानीजन कहते हैं—हे जीव ! तू इस बात का विचार कर कि तू इस संसार में बन्धन तोड़ने आया है या बन्धनों में बन्धने के लिए आया है ? जेलखाने में कैदी बेड़ी पहनता है सो मजा कम करने के लिए या बढ़ाने के लिए ? इसी प्रकार हे जीव ! तू संसार रूपी इस जेलखाने में आया है, और कुल तथा पत्नी आदि की बेड़ी तुझे पहनाई गई है । अब तू इस बेड़ी के बन्धन से छूटना चाहता है या अधिक बन्धना चाहता है ? अरे ! यह मनुष्यजीवन बेड़ी काटने के लिए मिला है ! और बार-बार यह सुअवसर मिलना कठिन है । इस आत्मा को मनुष्यजन्म का कैसा दुर्लभ अवसर मिला है, इस सम्बन्ध में श्रीउत्तराध्ययनसूत्र में कहा है —

कम्माण तु पहाणाए आणुपुब्बी कयाइओ ।—

जीवा सोहिमणुप्पत्ता आग्रयति सणुस्सय ॥

उत्तर ७—३५७ ।

इस गाथा का भाव यह है कि—हे आत्मा ! तू किन्हीं प्रधान-प्रशस्त कर्मों के कारण ही धीरे-धीरे यह स्थिति प्राप्त कर सका है । अगर प्रधान कर्म न होते तो गर्भ में जीवित रहना ही कितना कठिन है, यह विचार कर देख । तेरे साथ ही दूसरे नौ लाख प्राणी जन्मे थे मगर उन सब में से तू ही अकेला जीवित बच सका । अगर तुझे पुण्य का योग न मिला होता तो तेरी भी वही दशा होती जो तेरे नौ लाख साथियों की हुई । तू भी मरकर समाप्त हो जाता । केवल पुण्य के प्रभाव से ही तू बच पाया है ।

प्रश्न किया जा सकता है कि नौ लाख जीव किस

प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न के सम्बन्ध में, जावरा में एक डाक्टर के साथ मेरी बातचीत हुई थी । डाक्टर ने कहा था कि शुक्र और शोणित को सूक्ष्मदर्शक यन्त्र द्वारा देखा जाये तो उनमें अनेक कीड़े दिखाई देते हैं । यह तो सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखने की बात हुई । परन्तु अपने को तो भगवान् पर अटल विश्वास है । अतएव हमें मानना चाहिए कि उनका कथन सत्य ही है । भगवान् कह गये हैं कि हमारे साथ नौ लाख सज़ी जीव उत्पन्न हुए थे, मगर वे नष्ट हो गए और मैं पुण्य के प्रभाव से बच गया । इस प्रकार प्रधान-शुभ कर्म के प्रताप से ही यह मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है ।

बड़ी कठिनाई से मनुष्यजन्म प्राप्त होता है । इस कारण उसका दुरुपयोग न करने के लिए जैनशास्त्रों में बारम्बार उपदेश दिया गया है । अन्य दर्शन वाले भी मनुष्यजन्म को उत्तम और दुर्लभ मानते हैं । ऐसा दुर्लभ मनुष्यजन्म अपने को सहज ही मिल गया है तो किस प्रकार इसे सफल बनाना चाहिए, यह विचारणीय है । मनुष्यजन्म द्वारा ससारबन्धन को सुदृढ़ करना चाहिए या तोड़ना चाहिए ? अगर कोई कैदी अपनी कारागार की अवधि बढ़ाए ता वह मूर्ख कहा जायगा, मगर तुम क्या कर रहे हो ? इस शरीर में तथा ससार में रहना तो एक प्रकार के कारागार में रहना है । जैसे कैदी कारागार में से निकलने की इच्छा रखता है और उसी के अनुसार वर्तव करता है, इसी प्रकार तुम ससार रूपी कारागार से निकलने की भावना करो और वैसा ही वर्तव करो । इस मानव भव में अगर ससार-कारागार से मुक्त होने की चेष्टा न की तो फिर कब

करोगे ? बड़ी ही कठिनाई से यह जन्म मिला है । फिर भी ससार के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए इसका सदुपयोग न करके बन्धनों को मजबूत करने में दुरुपयोग करना कितनी बड़ी मूर्खता है । भक्त तुकाराम ने इस विषय में कहा है —

अनन्त जन्म जरी केल्या तपराशी तरी हान पवसी मानव देह ।  
ऐसा हा निदान लागेला सि हाथी त्याची केली माटी भाग्यहीन ।  
उत्तमाचा सार वेदाचा भडार जया ने पवित्रे तीर्थे होति ।  
म्हणे तुकिया बन्धु आणी उपमा नाही या तरे जन्मी व वयासी ।

भक्त तुकाराम कहते हैं कि ऐसा दुर्लभ मनुष्य-जन्म मिलने पर भी कितने ही भाग्यहीन लोग, मनुष्य जन्म का मूल्य वैसा ही आकते हैं जैसा मूर्ख मनुष्य हीरा की कीमत पत्थर की तरह आंकता है । अभाग्य लोग मनुष्यजीवन का एक मूल्य नहीं आक सकते । मनुष्य, फिर भले ही वह चोर ही क्यों न रहा हो, मनुष्यजन्म का सदुपयोग करके अपना कल्याण कर सकता है । इसके विपरीत, जो मनुष्यजीवन का दुरुपयोग करता है वह चाहे चक्रवर्ती ही क्यों न हो, तब भी ससार के बन्धनों में बन्धता है । अतएव मनुष्यजन्म का सदुपयोग ऐसे कार्यों में करना चाहिए जिससे सासारिक बन्धनों का विनाश हो ।

श्री उत्तराध्ययनसूत्र में, दशवे अध्याय में कहा है—

वणस्सइकायमइगमो उवकीसं जीवो उ सवसे ।

कालमणंतदुरंतयं समयं गोयम ! मा पमायए ॥

इस गाथा का भावार्थ यह है कि हे गौतम ! अनन्त दुर्गम काल व्यतीत हो जाने पर यह मनुष्यशरीर प्राप्त हुआ

है । इस कथन पर गम्भीर विचार करने से ज्ञात होता है कि अनन्त भवो तक तप कर रहे पर भी यह मनुष्य शरीर किसी को मिलता है और किसी को नहीं भी मिलता । अनन्त एकेन्द्रिय जीव ऐसे मौजूद है जिन्हें अभी तक द्वीन्द्रिय अवस्था तक प्राप्त नहीं हो सकी । परन्तु हमे अपने सत्कार्य के प्रताप से मनुष्यजन्म मिला है । इस विषय में तुलसीदास ने कहा है—

चतुराई चूले पड़ो, धिग धिग पड़ो आचार ।  
तुलसी हरि के भजन बिन, चारो वर्ण चमार ॥

अर्थात् जो व्यक्ति, चाहे वह उच्च कुल में जन्मा हो या नीच कुल में उत्पन्न हुआ हो, अगर परमात्मा का भजन नहीं करता तो वह चमार के समान है ।

तुलसीदासजी के इस कथन पर तुम कह सकते हो कि ब्राह्मण चमार कैसे हो सकता है ? अथवा हम चमार कैसे बन सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में सब से पहले यही कहना है कि चमार क्या करता है, सो देखो । चमार चमड़े को पकाता है, रगता है, साफ करता है, और फिर जूता बनाकर तुम्हारे सामने रख देता है । अब तुम परमात्मा का भजन न करके क्या करते हो, सो विचार करो । तुम तेल और साबुन कहा मलते हो ? शरीर पर ही तेल-साबुन लगाते हो न ? यह शरीर क्या है ? चमड़ा ही । चमार जो चमड़ा तैयार करता है, उससे दूसरो की रक्षा भी होती है और वह जो कुछ करता है, दूसरो की रक्षा के लिए करता है । मगर तुम्हारे इस शरीर के चमड़े से दूसरो का क्या हित होता है ? जो चमार दूसरो के लिए श्रम करता है,



और स्वयं श्रम करके दूसरो का हित करता है, उसे तो आप नीच समझते हैं और अपने आपको ऊँचा मानते हैं । तुम अपने और चमार के कार्यों की तुलना करो तो पता चलेगा कि चमार क्या बुरे कार्य करता है और तुम क्या अच्छे कार्य करते हो । अतएव परमात्मा का भजन करो । सिर्फ शरीर पर तेल-साबुन लगाने में ही मत लगे रहो । यदि तुम शरीर पर तेल-फुलेल लगाने में ही लगे रहे और परमात्मा का भजन न किया तो कैसे कहा जायेगा कि तुम चमार से अच्छे हो ? तुम्हें यह दुर्लभ मनुष्यजन्म मिला है सो इसका सदुपयोग करो । इस मनुष्यशरीर द्वारा आत्मा परमात्मा के शरण में जा सकता है । परमात्मा इस शरीर के लिए जितना सन्निकट है, उतना अन्य किसी भी देह के लिए सन्निकट नहीं है । ऐसा होने पर भी तुम मनुष्य-शरीर का कैसा दुरुपयोग करते हो, इस बात का विचार करो । कहा भी है—

दया और धर्म के प्रताप कोटवाल भयो,

अब नहीं साधु की सगति सुहात है ।

रात दिन करे मनसूब धन बाधवे के,

आयु घटी जात जाकी चित्त नहीं चाह है ।

हीरन को छाड़ि छाड़ि कांचन को नग लेत,

अने ही हाथ देखो आप खोटा खात है ।

ऋषीजी कहत हुडी और की सिकारत है,

अपनी हुडी के दाम रीते रह जात है ॥

अर्थात्—यह मनुष्य शरीर किसके प्रताप से मिला है? क्या कोई मनुष्य शरीर का एक भी अंग बना सकता है ?

बादशाह प्रसन्न हो जाये तो कोहीनूर हीरा तो दे सकता है, मगर आँख का हीरा अर्थात् आँख का तेज चला गया हो तो वह नहीं दे सकता। विचार करो कि ऐसी तेजस्वी आँख तुम्हें किसके प्रताप से मिली है ? बादशाह के द्वारा दिये हुए कोहीनूर हीरे को कोई फोड़ने लगे तो बादशाह उस पर नाराज होगा या नहीं ? अगर तुम अपनी आँखों का, जिसका मूल्य कोहीनूर हीरे की अपेक्षा भी बहुत अधिक है, परस्त्री या परपुरुष को-दुर्भाविना से देखने में दुरुपयोग करो तो क्या परमात्मा तुम से प्रसन्न होगा ? अगर तुम परमात्मा को प्रसन्न करना चाहते हो तो अपनी आँखों का सदुपयोग करो। ससार-बन्धन से मुक्त होने के लिए ही मनुष्य शरीर का सदुपयोग करना चाहिए।

इस कथन का आशय यह है कि मनुष्य शरीर अप्रतिबद्ध-अनासक्त होने के लिए ही प्राप्त हुआ है। कहा जा सकता है कि अप्रतिबद्ध रहने से हमारे घर का और हमारी जाति का काम कैसे चल सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर ज्ञानीजन यह देते हैं कि किसी भी वस्तु पर जितना ममत्व रखोगे उतना ही दुःख बढ़ेगा। अतएव ममत्व भाव जितना कम हो, उतना ही भला है। साधारणतया प्रतिबन्ध का अर्थ वस्तु का दुरुपयोग है और अप्रतिबन्ध का अर्थ वस्तु का सदुपयोग है। उदाहरणार्थ—आँख देखने के लिए और कान सुनने के लिए प्राप्त हुए हैं। परन्तु आँख से क्या देखना चाहिए और कान से क्या सुनना चाहिए, इस सबन्ध में विवेक की आवश्यकता है। आँख परस्त्री पर कुदृष्टि डालने के लिए और कान पराई निन्दा सुनने के लिए नहीं मिले हैं। फिर भी आँख और कान का सदुपयोग किया

जाये तो वह अप्रतिबन्ध है । जो मनुष्य आँख और कान का मूल्य समझता होगा वह उनका दुरुपयोग कदापि नहीं करेगा । शास्त्रकारों का कथन है कि इन्द्रियो को और मन को विपरित कर्षणों से निवृत्त करके सत्कार्यों में प्रवृत्त करना अप्रतिबन्ध है । जो पुरुष प्रतिबन्ध से निवृत्त होकर अप्रतिबन्ध दशा में विचरता है, वह अपनी आत्मा का कल्याण कर सकता है ।

आत्मा को परमात्मा बनाने के लिए अप्रतिबद्ध होने की आवश्यकता है और अप्रतिबद्ध होने के लिए सग का त्याग करने की आवश्यकता है । सग दो प्रकार के हैं । एक सग तो आत्मा को अधोगति में ले जाता है और दूसरा सग ऊर्ध्वगति में पहुँचाता है । यहाँ जिस सग के त्याग करने के लिए कहा है वह अधोगति में ले जाने वाला है । प्रश्न हो सकता है कि अधोगति में ले जाने वाला सग कौनसा है और ऊर्ध्वगति में ले जाने वाला कौनसा है ? इस प्रश्न के उत्तर में गीता में कहा है. —

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

सगात्संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥

अर्थात्—जिस सग के कारण विषयवासना में प्रवृत्ति होती है वह सग अधोगति की ओर ले जाता है । क्योंकि विषयवासना में किसी प्रकार की विघ्नवाधा उपस्थित होने पर क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है । राम महापुरुष थे, फिर भी रावण को उन पर क्रोध हुआ था, क्योंकि सीता

को अपनी बनाने में राम बाधक थे । इसी प्रकार मणिरथ युगवाहु का सगा भाई था, फिर भी विषयवासना के कारण क्रुद्ध होकर उसने युगवाहु को मार डाला था । अतएव जिस सगति से क्रोध और कामवासना की उत्पत्ति होती हो, उस सगति का त्याग कर देना चाहिए ।

कुसगति में अनेक बुराईया है । बड़े-बड़े मनुष्य भी सग के कारण खराब हो जाते हैं । इसी कारण निःसग बनने के लिए कहा गया है । निःसग बनने के लिए अप्रतिबद्ध होना आवश्यक है । आत्मा को अप्रतिबद्ध बनना ही चाहिए किन्तु आत्मा में दुर्गुणों की ऐसी वासना घर कर बैठी है कि उस वासना के कारण आत्मा अपनी हानि जानते हुए भी हानिकारक कार्यों में ही फँसता जाता है । इसी कारण भक्तजन कहते हैं 'हे प्रभो ! मुझ सरीखा मूर्ख और कौन होगा ? कोई कह सकता है कि तुम मूर्ख नहीं हो, मूर्ख तो मछली और पतंग हैं जो अपने आप ही जाल में जा फँसते हैं और जलकर मर जाते हैं । परन्तु यह कथन भूलभरा है । मछली और पतंग भी मेरे समान मूर्ख नहीं हैं । मेरी मूर्खता तो इनकी मूर्खता से भी बहुत बड़ी है । अगर मछली को पता हो कि इस आटे के पीछे काटा है और वह काटा मेरे लिए प्राणघातक है तो मछली उस काटे में कदापि न फँसे और अपने प्राणों का नाश न करे । परन्तु मछली तो उसे अपना भक्ष्य समझ कर ही खाने जाती है और रसलोलुपता के कारण फस जाती है । इसी प्रकार अगर पतंग को पता होता कि दीपक में अग्नि है और उस अग्नि से मैं मर जाऊँगा तो वह दीपक पर मोहित नहीं होता । परन्तु पतंग दीपक को अग्निरूप नहीं समझता । वह तो सुन्दर

रूप देखकर ही उम पर गिरता है और अपने प्राणों की आहुति दे देता है । इस प्रकार मछली और पतंग तो अन-जान में ही विषयभोग में फँसते हैं परन्तु मैं तो जान-बूझ कर विषयभोग में फँस जाता हूँ और इस कारण मैं उनकी अपेक्षा अधिक मूर्ख हूँ । मैं जानता हूँ कि विषयभोग हानि-कारक है, फिर भी मैं विषयभोगों में प्रवृत्ति करता हूँ । अतएव दीपक लेकर कूप में गिरने वाला मुझ-सा मूर्ख और कौन होगा ।

विषयसुख में अनेक हानियाँ हैं और इसी कारण भग-वान् कहते हैं—‘नि सग वनो ।’ यह बात कहने में तो बहुत छोटी है और सरल है किन्तु उसका आचरण करना बहुत कठिन है । कहने और करने में बहुत अन्तर होता है । अतएव अप्रतिबद्ध और नि संग बनने के लिए प्रयत्न करने की आवश्यकता है अगर ठीक प्रयत्न किया तो आदर्श तक पहुँचा जा सकता है ।

तुम्हारे पूर्वज तुम्हारे लिए जो उच्च आदर्श उपस्थित कर गये हैं, उसी आदर्श का अनुसरण करो । मगर आज-कल तो गौरांग गुरुओं के सग से ऐसा समझा जाने लगा है कि मानो पूर्वजों में बुद्धि ही नहीं थी और वे मूर्ख ही थे । तुम्हारे पूर्वजों की ओर से तुम्हारे लिए त्याग का जो आदर्श रखा गया है वह अन्यत्र मिलना अत्यन्त कठिन है । लेकिन तुम आदर्श की ओर ध्यान नहीं देते और इधर-उधर भटकते फिरते हो । तुम आध्यात्मिक कार्यों में गति ही नहीं करते । सिर्फ आधिभौतिक कामों में फँसे रहते हो । यद्यपि गृहस्थ होने के कारण तुम्हें आधिभौतिक कार्यों की सहायता

लेनी पड़ती है, यह स्वाभाविक है, परन्तु इतना ध्यान तो रखना ही चाहिए कि जो आधिभौतिक वस्तु नरक के मार्ग में ले जाने वाली है, वह तुम्हारे काम की नहीं। अतएव आधिभौतिक कार्यों के साथ अध्यात्मिक कार्य भी अवश्य करने चाहिए।

कहने का आशय यह है कि परमात्मा के शरण में जाने के लिए सग का त्याग करो। विषयसुख के मग से क्रोध उत्पन्न होने पर हित-अहित का भान नहीं रहता। सुना है, मेवाड में एक पुरुष क्रोध के आवेश में आकर अपनी पत्नी को निर्दयतापूर्वक मारने लगा। यह देखकर उसकी लड़की चिल्लाने लगी—‘मेरे पिता, माँ को मार रहे हैं। कोई दीडो, बचाओ!’ लड़की की यह चिल्लाहट सुनकर पिता ने उसके दोनों पैर पकड़े और पत्थर पर पछाड़ दो, नतीजा यह हुआ कि वैचारी लड़की तत्काल मर गई। लड़की को मार डालने के बाद उसने पत्नी के भी प्राण ले लिए और अन्त में आत्मघात करके वह स्वयं भी मर गया। क्रोध का परिणाम कितना भयकर होता है, यह बात इसी उदाहरण से समझी जा सकती है। अतएव क्रोध से बचने के लिए सग का त्याग करना चाहिए। विषयलालसा का सग होगा तो क्रोध उत्पन्न होना स्वाभाविक है। क्रोध में सम्मोह उत्पन्न होता है और सम्मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है। स्मृतिभ्रंश से बुद्धि का नाश होता है और बुद्धि के नाश में आप स्वयं नष्ट हो जाता है अर्थात् नीच गति प्राप्त करता है। इसलिए अपने पूर्वजों के उच्च आदर्श को दृष्टि के सामने रखकर अपने जीवन को भी आदर्श के अनुसार उच्च बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरों की

बातों में फंस कर अपने पूर्वजों को धिक्कारो मत । उनके महान् आदर्श को सन्मुख रखो और जीवन को उच्च बनाओ । इसी प्रयत्न में कल्याण है ।

तुम लोग धार्मिक होने के कारण कदाचित् गौरांग गुरुओं के प्रभाव से बच सके होंगे । परन्तु इस बात का तो खयाल रखते हो कि तुम्हारी सतान पर उनका कैसा प्रभाव पड़ रहा है ? वही ऐसा तो नहीं कि बकरा निकालने गये और ऊँट घुम पड़ा ? तुम्हारी सतान मुधार के नाम पर कुधार तो नहीं करती ? अगर तुम्हारी सतान आधिभौतिक मार्ग की ओर झुक गई हो तो उसे अध्यात्म की ओर मोड़ना तुम्हारा कर्त्तव्य है ।

कहा जा सकता है कि आजकल की सतति को आध्यात्मिक बात समझना कठिन है । इस सम्बन्ध में यही कहना है कि बालक जब कुनाइन या और कोई कड़वी दवा नहीं खाता तो माता कड़वी दवा के साथ कोई मीठी चीज खाने को देती है । माता का उद्देश्य मीठी चीज देने का नहीं होता वरन् कुनाइन या कड़वी दवा देने का और रोग मिटाने का होता है । इसी प्रकार तुम लोग भी सत्तानों में आध्यात्मिक भाव भरने का उद्देश्य रखो । अगर सीधी तरह आध्यात्मिक भाव नहीं भरा जा सकता तो आध्यात्मिक भाव रूपी कुनाइन को आधिभौतिक रूमी मीठी चीज के साथ दो । अगर तुम आध्यात्मिक मार्ग की ओर मुड़ोगे और तुम्हारी सन्तान आधिभौतिकता की ओर अग्रसर होगी तो दोनों के बीच खीचतान होने की सम्भावना रहेगी । अतएव मतभेद और खीचतान पैदा न होने देने के लिए मध्यम मार्ग खोज निकालना चाहिए ।

तुम कह सकते हो—हम ऐसा साहित्य कहा से लायें, जिससे हमारा सतानो-युवको के साथ किसी प्रकार का मत-भेद न हो। इस प्रश्न के समाधान के लिए वृद्धो और युवको को अपने-अपने भीतर समान रूप से आध्यात्मिक संस्कार उतारने का प्रयत्न करना चाहिए। यह तो निश्चित है कि वृद्धो का काम युवको के सहयोग के बिना और युवको का काम वृद्धो के सहयोग बिना नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति में वृद्धो और युवको दोनों का कार्य बराबर चल सके- ऐसा मध्यम मार्ग खोज निकालना आवश्यक है। इस दिशा में जितना प्रयत्न किया जाये उतना ही लाभदायक है। अगर तुममें सब के सहयोग से कार्य करने की भावना होगी तो तुम्हारा आत्मा इस विषय में कोई मार्ग अवश्य ही बता देगा। आत्मा में सब प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान हैं, आवश्यकता है भावना की। आत्मा की शक्ति कम नहीं है। आत्मा में सिद्ध भगवान् जितनी शक्ति मौजूद है। कहा भी है —

सिद्धा जैसा जीव है, जीव सोई सिद्ध होय ।

कर्म-मैल का अन्तरा, बूझै विरला कोय ॥

जीव कर्म भिन्न-भिन्न करो, मनुष्य जनम को पाय ।

ज्ञानात्म वैराग्य से, धीरज ध्यान लगाय ॥

कच्चे सोने में और पक्के ( शुद्ध ) सोने में जितना अन्तर होता है उतना ही अन्तर जीव और शिव में है। यद्यपि दोनों सोने हैं, फिर भी अगर कोई पुरुष शुद्ध सोने को ही सोना माने और कच्चे सोने को सोना न माने तो यह उसकी भूल है। शुद्ध सोने के लिए जो क्रिया की गई है।



वही क्रिया अगर कच्चे सोने को शुद्ध करने के लिए की जाये तो मिट्टी मिला हुआ सोना भी शुद्ध सोने के समान ही हो जायगा । बचपन में एक धूलधोया के लडके के साथ मेरी मित्रता थी । मैं कई बार उसके घर जाता था । उसके घर जाने से मुझे मालूम हुआ कि धूल में से सिर्फ सोना ही नहीं निकलता, सोने के अतिरिक्त और धातुएँ भी निकलती हैं । वे लोग अपनी वशपरम्परागत क्रिया द्वारा उन धातुओं को अलग-अलग कर डालते हैं । इसी प्रकार जीव आज कर्मबधन से बद्ध है । परन्तु उसे अगर कर्मरहित बना लिया जाये तो जीव में और शिव अर्थात् सिद्ध में कुछ भी अन्तर नहीं रहता । अतएव सिद्धों का स्वरूप समझ कर अपना स्वरूप पहचानो और सिद्ध बनने का प्रयत्न करो इस सम्बन्ध में एक महात्मा ने कहा है:—

अजकुलगत केसरी लहे रे, निजपद सिंह निहार,  
तिम प्रभु भक्ते भवी लहे रे, आत्मस्वरूप संभार,  
अजित जिन तारजो रे ॥

इस पद में एक दृष्टान्त देकर बतलाया गया है कि आत्मा किस प्रकार अपना स्वरूप भूल गया है और किस प्रकार अपने स्वरूप को जान सकता है । इस दृष्टान्त में कहा है—एक सिंहनी बच्चे को जन्म देते ही मर गई । बच्चा छोटा था और निराश्रित था । जंगल में चरता-चरता वह भेड़ों के झुंड में मिल गया । बच्चा किसी का क्यो न हो, मगर उसे सभी प्यार करते हैं, क्योकि बालक निर्दोष होता है । सिंह का वह बच्चा भी भेड़ों को प्रिय लगने लगा । भेड़ों का मालिक सोचने लगा कि भेड़ों के साथ

सिंह का बच्चा रहे तो अच्छा ही है । यह सोचकर वह बच्चे को दूध पिलाने लगा । शेर का बच्चा भेडो के ससर्ग से अपने आपको भेड ही समझने लगा । वह भेडो के समान ही रहने लगा और वैसी ही चेष्टाएँ करने लगा । किसी समय शेर की गर्जना सुन पड़ती तो वह बच्चा भी भयभीत होकर भेडो के साथ भागता । हालांकि सिंह का बच्चा स्वयं गर्जना करने वाला और भेडो को भगाने वाला था, लेकिन अपना स्वरूप भूल जाने के कारण ही वह भेडो की तरह भयभीत होकर भागता फिरता था ।

एक दिन भेडो के झुंड के साथ वह बच्चा जंगल में गया था । वहाँ सिंह ने गर्जना की । सिंह की गर्जना सुनकर सब भेड भागी । सिंह का बच्चा भी साथ ही भागा । भागते-भागते उसने विचार किया — जिस सिंह का इतना बहुत डर लगता है, देखे तो सही वह सिंह कैसा है ? इस प्रकार विचार कर वह थोड़ी देर रुका । उसने सिंह की ओर देखा और फिर भेडो के साथ भागने लगा । परन्तु सिंह का स्वरूप उसके हृदय में अंकित हो गया । वह सोचने लगा— सिंह कितना जबर्दस्त है ! उसका मुख कितना विकराल और उसकी जीभ कैसी लाल है ! और उसकी गर्जना कितनी भयकर है । ऐसे भयानक सिंह से डरना स्वाभाविक है ।

किसी दूसरे दिन वह शेर को बच्चा भेडो के साथ नदी में पानी पीने गया । बकरी और भेड पानी गन्दा करके नहीं पीती, उन्हें धीरे से निर्मल पानी पीना सुहाता है । भेडो के साथ शेर का बच्चा भी पानी पीने लगा । पानी पीते समय उसका प्रतिबिम्ब पानी में पड़ा । अपना प्रति-

बिम्ब देखकर वह सोचने लगा—मेरा स्वरूप तो कुछ निराला-  
ही है । मैं इन भेड़ों जैसा नहीं हूँ । मेरी आकृति भी इन  
सरोखी नहीं है । मेरी आकृति तो उस दिन के सिंह से  
मिलती—जुलती है । मेरा मुख भी वैसा ही है और शरीर  
भी वैसा ही है । मगर देखू जीभ भी वैसी ही है या नहीं ?  
उसने अपनी जीभ निकाल कर देखी तो वह भी उस सिंह  
सरोखी दिखाई दी । सिंह का बच्चा सोचने लगा — मेरा  
मुँह, मेरा शरीर, मेरी जीभ, मेरी आकृति और मेरी पूँछ  
वगैरह सब उस शेर के समान हैं । मगर देखना चाहिए कि  
मेरी आवाज भी शेर सरोखी है या नहीं ? यह सोचकर  
बच्चे ने गर्जना की । गर्जना सुनते ही भेड़े भयभीत होकर  
भागी । भेड़ चराने वाला भी भय का मारा भाग खड़ा  
हुआ । सब के भाग जाने से सिंह के बच्चे को विश्वास हो  
गया कि मैं सिंह ही हूँ, भेड़ नहीं हूँ ।

अब इस शेर के बच्चे को भेड़ों की टोली में रखा  
जाये तो क्या वह रहना पसन्द करेगा ? नहीं ।

भक्त कहता है—जैसे सिंह का बच्चा भ्रम से भेड़ के  
समान बन गया था, किन्तु सिंह को देखकर वह अपने स्वरूप  
को पहचान सका, इसी प्रकार यह आत्मा भी भ्रम के कारण  
भेड़ के समान बन गया है । अगर आत्मा स्थिर होकर  
परमात्मा का ध्यान धरे तो अपने स्वरूप को पहचान सकता  
है और परमात्मा के समान बन सकता है । परमात्मा का  
ध्यान करने के लिए एकाग्रता की अत्यन्त आवश्यकता है ।  
एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान किया जाये और यह  
विचार किया जाये कि मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ?

कहा जाने वाला हूं ? मैं देह नहीं, देही हूं, मैं कान नहीं वरन् कान से काम लेने वाला हूँ, इत्यादि, तो आत्मज्ञान प्रकट हो सकता है और आत्मज्ञान होने से परमात्मा को पहचाना जा सकता है । आत्मा का स्वरूप जन्म का प्रयत्न करो तो सिद्धगति प्राप्त कर सकते हो । तुम्हारे जो बाल बचपन में काले थे, वे सफेद होकर सूचना दे रहे हैं कि हम तो अपनी गति प्राप्त कर रहे हैं, तुम अपनी गति क्यों नहीं प्राप्त करते ? इस उपदेश का अर्थ यह नहीं कि तुम अपना शरीर नष्ट कर डालो । इसका अर्थ यह है कि आत्मा और शरीर को अलग-अलग समझो और यह मानो कि मैं शरीर नहीं, शरीर में रहनेवाला आत्मा हूँ । इस प्रकार देही होने पर भी तुम देह के प्रतिबन्ध में पड़े हो । इस प्रतिबन्ध को दूर किये बिना आत्मा सिद्धगति प्राप्त नहीं कर सकता । अतएव प्रतिबन्ध दूर करने के लिए तथा आत्मा को अप्रतिबद्ध बनाने के लिए एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करो । एकाग्रतापूर्वक परमात्मा का ध्यान करने से आत्मा स्वयं परमात्मा बन जाएगा । आत्मा का वास्तविक कल्याण अपना स्वरूप समझने में और परमात्मदशा प्राप्त करने में ही है ।



# एकतीसवां बोल

## विविक्त शयनासन

तीसवें बोल में अप्रतिबद्धता पर विचार किया गया है । जो पुरुष अप्रतिबद्ध होता है या होना चाहता है, वह स्त्री, पशु और नपुंसक वाले स्थान में शयन-आसन नहीं करता । अतएव गौतम स्वामी, भगवान् से प्रश्न करते हैं कि विविक्त शयनासन का सेवन करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न — विविक्त शयनासनसेवणयाएणं भंते जीवे किं जणयई ?

उत्तर — विविक्तशयनासनसेवणयाए ण चारित्तगुत्तिं जणयइ, चरित्तगुत्ते य ण जीवे विविक्ताहारेदृढचरित्ते एगन्त-  
रए मोक्खभांवपडिवत्ते अट्ठविहकम्मगोठं निज्जरेइ ॥३१॥

### शब्दार्थ

प्रश्न — भगवन् ! एकान्त शयन और आसन के सेवन से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर - गौतम ! विविक्त शयनासन से अर्थात् स्त्री आदि के ससर्ग रहित शयन और आसन का सेवन करने से चारित्र्य की रक्षा होती है, चारित्र्यहीन बनने से जीव आहार सवन्धी आसक्ति त्याग कर चारित्र्य में दृढ होता है । इस प्रकार एकान्तप्रिय और मोक्ष भाव को प्राप्त जीवात्मा आठो प्रकार के कर्मों के बन्धन से मुक्त होता है ।

### व्याख्यान

सूत्रपाठ के सम्बन्ध में विचार करने से पहले विविक्त शयनासन के अर्थ पर विचार कर लेना चाहिए ।

विविक्त शब्द का अर्थ है रहित अथवा एकान्त । साधु हो तो स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित और यदि साध्वी हो तो पुरुष, पशु आदि में रहित शयन, आसन और उपलक्षण से स्थान का सेवन करना चाहिए ।

शास्त्र में मुख्य रूप से पुरुषों को लक्ष्य करके उपदेश दिया गया है, और इसी कारण सूत्र पाठ में साधु को स्त्री, पशु और नपुंसक वाले शयन, आसन तथा स्थान का सेवन न करने के लिए कहा गया है । स्त्री, पुरुष और नपुंसक वाले शयन, आसन और स्थान में साधु के ब्रह्मचर्य की भलीभाँति रक्षा नहीं हो सकती ।

साधु को किस उद्देश्य से विविक्त शयन-आसन का सेवन करना चाहिए ? क्या साधु को स्त्री, पशु और नपुंसक के साथ किसी किस्म का द्वेष है अथवा किसी प्रकार की अरुचि है ? अगर अरुचि के कारण ही साधु विविक्त शयन-आसन का सेवन करते हो तो अनेक गृहस्थ भी ऐसे

हैं जो क्लेश उत्पन्न होने के कारण स्त्री का मुँह देखना भी पसंद नहीं करते। उदाहरणार्थ—सती अजना पर पवनकुमार क्रुद्ध हो गए थे। अतएव वह अजना का नाम सुनना नहीं चाहते थे। इतना ही नहीं, जिस द्वार में से अजना उनका दर्शन करती थी, वह द्वार भी उन्होंने बन्द करवा दिया था। क्या इस प्रकार के वर्त्ताव को विविक्त शयन सन कहा जा सकता है? यदि नहीं, तो विविक्त शयनासन किसे कहना चाहिए? जब साधुओं को किसी भी प्राणी पर द्वेष नहीं है, सब जीवों के प्रति समभाव है, और वे स्त्री, पशु और नपु-सक आदि को आत्मतुल्य गिनते हैं, तो विविक्त शयनासन का यहाँ क्या अभिप्राय है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि साधुओं को एकान्त में रहना चाहिए, क्योंकि सब लोगों का चरित्र सरीखा नहीं होता। अगर साधुओं के लिए एकान्त में रहने का नियम न हो और वे स्त्री, पशु और नपुसक वाले स्थान में रहने लगे तो ब्रह्मचर्य का घात होने की सम्भावना है। हालांकि विजय सेठ और विजया सेठानी एक ही जगह शयन करते हुए भी ब्रह्मचर्य का पालन करते थे, यह बात प्रसिद्ध है। किन्तु यह एक अपवाद है। सभी लोग ऐसे नहीं हो सकते। अतएव ब्रह्मचर्य सम्बन्धी जो मर्यादा बांधी गई है, उसका पालन करना उचित और आवश्यक है। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरे जनाः ।

अर्थात्—श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग वैसा ही आचरण करते हैं।

अतएव विजय सेठ और विजया सेठानी के समान

## १६०-सम्यक्त्वपराक्रम (३)

शक्ति होने पर भी मर्यादा का पालन करना आवश्यक है । मर्यादा का पालन न करने से अन्य लोगों को हानि होने की संभावना रहती है । क्योंकि जिनमें ऐसी शक्ति नहीं होती वे भी इस प्रकार के उदाहरण की आड़ में ऐसा काम करने लगते हैं और अन्त में पतित हो जाते हैं । सभी पृथ्वी के सहारे टिके हैं । आसन आदि होने पर भी आधार तो पृथ्वी का ही है । परन्तु कोई महात्मा अगर अपने लब्ध-बल से पृथ्वी का सहारा लिये बिना ही स्थिर रह सकता हो तो उसे अपवाद कहना चाहिए । मगर इस अपवाद का अनुकरण करने वाले दूसरे लोग भी यदि पृथ्वी का सहारा लिए बिना स्थिर रहने का प्रयत्न करें तो वे नीचे गिर जाएंगे । इसी प्रकार कोई सयमी मनुष्य, स्त्री के साथ रहता हुआ भी सयम का पालन करता है, मगर यह अपवाद है और वह सभी के लिए उत्सर्ग मार्ग नहीं बन सकता । अतएव जहाँ स्त्री, पशु या नपुंसक का वास हो, वहाँ नहीं रहने का नियम सभी के लिए बना दिया गया है ।

शास्त्र में जो उपदेश दिया गया है वह जगद्गुरु का दिया-हुआ उपदेश है । जगद्गुरु किसी व्यक्ति-विशेष को ही लक्ष्य करके उपदेश नहीं देते, वरन् जनसमाज को दृष्टि में रखकर उपदेश देते हैं । इसलिए यह कहा गया है कि साधु को विविक्त शयनासन का सेवन करना चाहिए ।

यह तो हुई विविक्त शयनासन के सेवन की बात । परन्तु विविक्त के सेवन से लाभ क्या होता है ? इस विषय में कहा गया है कि विविक्त शयनासन के सेवन से चारित्र्य की गुप्ति रक्षा होती है ।



यह उपदेश ब्रह्मचर्य को दृष्टि में रखकर ही दिया गया है। अर्थात् यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को एकान्त में रहना चाहिए।

ब्रह्मचारी को ऐसे स्थान में नहीं रहना चाहिए, जहाँ स्त्री, पशु या नपुंसक रहते हों। यही नहीं, ब्रह्मचारी को विकार उत्पन्न करने वाला आहार भी नहीं लेना चाहिए। जिस आहार के सेवन से विकार पैदा होता है वह विकृत आहार कहलाता है। घी, दूध, तेल वगैरह वस्तुएँ विकृत उत्पन्न करती हैं, अतः उन्हें 'विगय' कहते हैं। शास्त्र में 'विगय' वस्तुओं के त्याग का खास तौर पर उपदेश दिया गया है। निशीथसूत्र में कहा है :-

‘जे भिक्खू आयरिय उवज्झायं अदिच्चविगयं आहारं तं वा साहिज्जइ ।’

अर्थात्—अगर किसी साधु को विगय अर्थात् विकृत वस्तु लेने की आवश्यकता हो तो उसे आचार्य तथा उपाध्याय की आज्ञा लेकर ही विकृति का आहार करना चाहिए। अगर कोई साधु, आचार्य या उपाध्याय की आज्ञा लिए बिना ही विकृत उत्पन्न करने वाले पदार्थ स्वयं खाता है या दूसरों को खिलाता है या खाने वाले का अनुमोदन करता है तो वह साधु दण्ड का पात्र है।

ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए तथा स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए जीभ पर अकुश रखने की बड़ी आवश्यकता है। जीभ पर अकुश न रहने से अनेक प्रकार की हानियाँ होती हैं। जीभ पर अकुश रखने वाले मनुष्य को शायद ही कभी वैद्य या डाक्टर के पास जाने की आव-

श्यकता पडती है ।

लोगो से पूछा जाये तो वे यही कहेंगे कि हम जीने के लिए खाते हैं । मगर उनकी परीक्षा की जाये तो जीने के लिए खाने वाले बहुत कम निकलेगे । अगर तुम जीने के लिए ही खाते हो तो क्या भोजन करते समय अपने डाक्टर बनकर क्या इस बात का विवेक रखते हो कि कौन-सी वस्तु भक्ष्य और कौन-सी अभक्ष्य है ? किससे स्वास्थ्य का सुधार और किससे स्वास्थ्य का नाश होता है ? अगर तुम भोजन के विषय में यह विवेक नहीं रखते तो किस प्रकार कहा जा सकता है कि तुम जीने के लिए खाते हो ? सचमुच ही अगर तुम जीने के लिए खाते हो तो स्वास्थ्य को हानि पहुंचाने वाली और जीवन को भ्रष्ट करने वाली वस्तुएँ कैसे खा सकते हो ? जैसे कोई भी मनुष्य अपरिचित पुरुष को अपने घर में सहसा स्थान नहीं देता, उसी प्रकार जिस वस्तु के गुण-दोष का तुम्हें पता नहीं है उसे अपने पेट में स्थान नहीं दे सकते । अगर तुम अपने पेट में अन-जान चीज को ठूस लेते हो तो तुम्हारे पेट को Dinner box (भोजन पेटी) के सिवाय और क्या कहा जा सकता है ?

एक विद्वान् का कथन है कि ससार में खा खा कर जितने लोग मरते हैं, भूख से उतने नहीं मरते । लोग कठ तक ठूस-ठूस-कर खाते हैं और फिर डाक्टर की सेवा में जाते हैं । इस प्रकार ज्यों-ज्यों डाक्टर बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों रोग बढ़ते जाते हैं । डाक्टरों के बढ़ने से रोगों की संख्या घटी नहीं है । 'इतनी-सी चीज खाने से क्या हुआ जाता है ? अगर कुछ हो भी गया तो डाक्टर की दवा

लेंगे ।' ऐसा विचार कर लोग अधिक खा जाते हैं और फिर बीमार पड़ते हैं । यह तो पड़ौसी के भरोसे अपना घर खुला रखने के समान है । आज तो प्रायः ऐसा देखा या सुना जाता है कि जो मनुष्य जुदा-जुदा प्रकार को जितनी खाद्य चीजें खाता है, वह उतना ही बड़ा आदमी कहलाता है । मगर शास्त्र कहता है कि जो जितना ज्यादा त्याग करता है वह उतना ही बड़ा पुरुष है । शास्त्र में आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि बारह करोड़ स्वर्ण मोहरों का तथा चालीस हजार गायों का स्वामी होते हुए भी उसने परिमित द्रव्य खाने-पीने की ही मर्यादा बाँधी थी । इस प्रकार शास्त्र की दृष्टि से जो पुरुष खानपान में जितना समय खर्चता है, वह उतना ही महान् गिना जाता है ।

जीभ पर अकुशल रखने से स्वास्थ्य भी अच्छा रहता है । तुम लोगों को जैसा और जितना खाना-पीना मिलता है, वैसा और उतना किसानों को नहीं मिलता, फिर भी किसी समय तुम्हारी और किसान की कुत्ती हो तो कौन जीतेगा ? यह तो स्वयं तुम्हीं कहोगे कि किमान हमारी अपेक्षा अधिक स्वस्थ और बलवान् है ।

इस प्रकार अधिक खाने से स्वास्थ्य सुधरता नहीं, बिगड़ता है । विकृत भोजन करने से स्वास्थ्य की हानि होती है और साथ ही चारित्र्य की भी हानि होती है । इसीलिए भगवान् ने कहा है कि जिस वस्तु के खाने से विकार उत्पन्न होता हो वह वस्तु साधु को नहीं खानी चाहिए । साधु को तो वही और उतना ही भोजन करना चाहिए, जिससे शरीर की रक्षा हो सकती हो ! शरीर को बढ़ाने के लिए अथवा

स्वाद के लिए साधु को भोजन करना उचित नहीं है ।

कहा जा सकता है कि स्वाद के लिए कोई चीज न खाना कैसे संभव हो सकता है ? खट्टी या मीठी चीज खाने से खट्टा या मीठा स्वाद आये बिना नहीं रह सकता । इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि, कल्पना करो, तुम्हें वैद्य ने शहद के साथ खाने के लिए कोई दवा दी । तुमने शहद के साथ दवा खाई । शहद तो अपना स्वाद देता ही है, परन्तु तुमने शहद स्वाद के लिए खाया है या दवा के लिए खाया है ? तुमने दवा सेवन करने के लिए ही शहद खाया है । इसी प्रकार साधुओं का भोजन करने का मुख्य उद्देश्य शरीर को टिकाए रखना है, स्वाद लेना नहीं ।

तुम लोग खाने में जितना आनन्द मानते हो, उससे अनन्त गुना आनन्द साधुजन सयम में मानते हैं । यही कारण है कि वे खाने के लिए सयम नहीं गवाते । उनको दृष्टि में खाने-पीने की अपेक्षा सयम की कीमत अनेकगुनी अधिक है । साधुजन सयम में और चारित्र्यपालन में सावधान रहते हैं और मुक्ति में आनन्द मानते हैं ।

मान लो, तुम्हारे पास एक मूल्यवान् हीरा है । तुम्हें विश्वास है कि इस हीरा की कीमत से तुम अपने सब सकट हटा सकते हो । ऐसी दशा में क्या तुम वह हीरा एक मुट्ठी चनों में बेच दोगे ? नहीं । इसी प्रकार जिन मुनियों को यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि सयम समस्त सकटों से छुटकारा दिलाने वाला है और आठ कर्मों को नष्ट कर मुक्ति दिलाने वाला है, वे मुनि क्या खानपान के लिए सयम का परित्याग कर सकते हैं ? कदापि नहीं ।

कहने का आशय यह है विविक्त शयनासन का सेवन करने से चारित्र्य की गुप्ति अर्थात् रक्षा होती है । चारित्र्य की रक्षा होने से आहार सम्बन्धी आसक्ति का नाश हो जाता है और चारित्र्यपालन में दृढता आती है । इस प्रकार सगृहीत शयन-आसन का सेवन करने वाला तथ्या मोक्ष-भाव को प्राप्त जीवात्मा आठों प्रकार के कर्मों के बन्धन से मुक्त होता है ।

एक भाई ने अभी प्रश्न किया है । वे कहते हैं—मैंने एक वक्ता से यह सुना है कि सासारिक कर्म नष्ट हो जाते हैं और जैनशास्त्र कहता है कि कृत कर्मों का नाश नहीं होता । इन दोनों में से कौन-सी बात सही है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो कर्म जिस प्रकार किया जाता है, वह उसी प्रकार भोगना पड़ता होता तो भगवान् यह क्यों कहते कि विविक्त शयनसन का सेवन करने वाला आठ कर्मों की गाँठ तोड़ सकता है ? किये हुए कर्मों का भोगना अनिवार्य होता तो इस कथन का क्या आशय है ? इसके अतिरिक्त अगर कर्मों की निर्जरा न हो सकती हो तो फिर तप किसलिए किया जाता ? इसमें कर्मों की निर्जरा होना सिद्ध होता है ।

अब दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि तप आदि के द्वारा कर्मों की निर्जरा हो जाती है तो फिर 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि' अर्थात् किये हुए कर्मों से बिना भोगे छुटकारा नहीं मिलता, यह क्यों कहा गया है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह दोनों बातें सही हैं । मैंने एक कविता सुनी है—

कर्मरेख नहीं मिटे करो कोई लाखो चतुराई ।

इस प्रकार एक ओर तो यह कहा जाता है कि कृत-कर्म भोगने ही पड़ते हैं और दूसरी ओर यह कहा जाता है कि कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है । इस प्रकार परस्पर विरोधी दो बातें सुनने से सदेह उत्पन्न होता है । ऐसा होना स्वाभाविक है । परन्तु यह विषय अगर भलीभाँति समझ लिया जाये तो संशय को कोई स्थान नहीं रह जाता ।

शास्त्र में स्पर्शबन्ध, बद्धबन्ध, निघत्तबन्ध और निकाचितबन्ध के भेद से कर्मों का बन्ध चार प्रकार का बतलाया गया है । पहला स्पर्शबन्ध सुइयों के ढेर के समान होता है । सुइयों का ढेर करने में कुछ देर लगती है पर बिखरने में देर नहीं लगती, क्योंकि सुइयों का आपस में स्पर्शमात्र हुआ है - बन्ध नहीं हुआ । दूसरा बद्धबन्ध है । बन्ध तो होता है मगर निर्जरा होने में देर नहीं लगती । अर्थात् सुइयों के उस ढेर को डोरे से बाँध दिया जाता है मगर वह डोरा सरलता से हटाया जा सकता है, और सुइयों का ढेर फिर जल्दी से बिखर जाता है । इस प्रकार का बन्ध बद्धबन्ध कहलाता है, तीसरा निघत्तबन्ध है । यह बन्ध कुछ मजबूत होता है जैसे उसी सुइयों के ढेर को लोहे के तार से मजबूत बांध दिया जाये । ऐसा करने पर सुइयाँ उस ढेर से निकल सकती हैं और लोहे का तार भी छूट सकता है । अलवत्ता लोहे का तार छुटाने में कुछ कठिनाई अवश्य होती है । चौथा निकाचितबन्ध है । यह बन्ध बहुत गाढ़ होता है । जैसे सुइयों का ढेर आग में तपा लिया जावे और घन से पीट-पीट कर उन्हें एकमेक कर दिया जाये । इस प्रकार

कर्म का बन्ध चार प्रकार का है । इनमें से तीन प्रकार से बन्धे हुए की पूरी तरह निर्जरा होती है । निकाचित कर्म की निर्जरा तो होती है किन्तु उसमें स्थिति और रसघात होता है । जैसे पहले जमाने में सुई बनाने में विलम्ब लगता था, मगर अब विज्ञान की वृद्धि हो जाने के कारण विलम्ब नहीं लगता । इसी प्रकार निकाचित कर्म भोगने तो पड़ते हैं मगर थोड़े समय में उनका भोग हो जाता है । निकाचित कर्म स्थिति और रस से तो कम किये जा सकते हैं, परन्तु प्रकृति और प्रदेश से कम नहीं हो सकते । इस प्रकार कर्मों की निर्जरा का होना भी सत्य है और भोगे बिना छुटकारा न होना भी सत्य है । शास्त्र का कथन सापेक्ष है और सापेक्ष दृष्टि में दोनों बातें सत्य हैं ।

कर्म भोगने पड़ते हैं, यह सुनकर किसी को घबरा-जाने की जरूरत नहीं है । कर्मों को भोगना अर्थात् पाप का नाश करना । अतएव कर्मों को भोग कर पाप से मुक्त होने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए । हा, ऐसा नहीं होना चाहिए कि पहले तो प पकारी प्रवृत्ति की जाये और फिर उसका प्रायश्चित्त किया जाये । यह तो वैसी चेष्टा है कि पहले तो चोर को घर में जानबूझ कर घुसने दिया जाये और फिर बाहर निकालने का प्रयास किया जाये । जानबूझ कर अपने घर में चोर को घुसने देना मूर्खता है । लोग घर में चोर न घुसने देने के लिए सावधानी रखते हैं । इसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ऐसी सावधानी रखनी पड़ती है कि पापकार्य न होने पावे । सावधानी रखने पर भी अगर पापकार्य हो जाये तो उसका प्रायश्चित्त करके ऐसा

प्रयत्न करना चाहिए कि भविष्य में फिर पापकार्य न हो सके । इस विषय में तुमसे और कुछ न बन सके तो जब माथे पर दुःख आ पड़े तो कम से कम इतना अवश्य मानो कि जो कुछ होता है, भले के लिए ही होता है ।

कहने का आशय यह है कि जो दुःख होने वाला है, वह तो होगा ही । परन्तु उस दुःख के समय जो कुछ होता है सो भले के लिए ही होता है, ऐसा समझ कर दुःख में भी सुख मानो । इस प्रकार दुःख के समय सुख समझने से आठ कर्मों की गाँठ ढीली होती है । दुःख भोगते समय हाय-तोवा मचाने से अधिक दुःख होता है । अतएव दुःख भोगते समय घबराना उचित नहीं है । चित्त को प्रसन्न रखकर परमात्मा का शरण ग्रहण करने से आत्मा का कल्याण अवश्य हो सकता है ।





# बत्तीसवाँ बोल

## विनिवर्त्तना



विविक्त शयन और आसन का सेवन करने वाले व्यक्ति को सर्वप्रथम विषयवासना से विमुख होना चाहिए । अतः गौतम स्वामी भगवान् से विनिवर्त्तना के विषय में प्रश्न करते हैं ।

### मूलपाठ

प्रश्न—विणियट्ठणयाए णं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—विणियट्ठणयाए पावकम्माणं अकरणयाए अब्भु-  
ट्ठेइ, पुब्बबद्धाणं य निज्जरणयाए तं नियत्तेइ, तस्मो पच्छा  
चाउरंतं संसारकंतार वीइचयइ ॥३२॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! विनिवर्त्तन से अर्थात् विषय-संबन्धी विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—हे गौतम ! विनिवर्त्तन से नवीन पापकर्म नहीं होते और पहले के बन्धे हुए टल जाते हैं, तत्पश्चात् जीव चारुगति रूप ससार-अटवी को लांघ जाता है ।

## व्याख्यान

विषय-वासना से विमुख होना विनिवर्त्तन कहलाता है । जो पुरुष विविक्त शयन और आसन का सेवन करता है, वह विषयवासना से अवश्य पराङ्मुख हो जाता है । क्योंकि विविक्तशयनासन का सेवन करने में चारित्र्य की रक्षा होती है और जो चारित्र्य की रक्षा करना चाहता है वह विषयवासना से पराङ्मुख होता ही है । इस प्रकार जो आत्मा विषयो की ओर दौड़ा जा रहा है, उसे उस ओर से रोक देना ही विनिवर्त्तन कहलाता है ।

जैसे पानी स्वभावतः नीचे की ओर बहता है उसी प्रकार पूर्व संस्कारों के कारण आत्मा विषयो की ओर दौड़ता है । आत्मा को विषयो की ओर जाने से रोकना ही यहाँ विनिवर्त्तन का अर्थ है । इस विनिवर्त्तन से अर्थात् विषय विरक्ति से जीव को क्या लाभ होता है ? गौतम स्वामी ने भगवान् से यही प्रश्न किया है । इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है कि विषयो से विरक्त होने वाला मनुष्य पापकर्मों में प्रवृत्त नहीं होता । विनिवर्त्तन करने वाला हमेशा इस बात की सावधानी रखता है कि मुझसे कभी कोई पापकर्म न हो जाये ! वह पहले के पापकर्मों की निर्जरा करने का भी प्रयत्न करता है । इस प्रकार वह पापकर्मों से निवृत्त होकर निष्पाप बनता है और निष्पाप होने से जीव मनुष्य, तिर्यच, देव तथा नरक-इन चार गति रूप ससार-अटवी को पार कर जाता है । यह मूल सूत्र का अर्थ हुआ । अब इस पाठ के सम्बन्ध में यहाँ विशेष विचार किया जाता है ।

ससारी जीव विषयो की ओर दौड़ता रहता है। साधारण कीड़े भी विषयो की तरफ दौड़ते हैं तो मनुष्य, जिसका इतना अधिक ज्ञानविकास हो चुका है विषयो की ओर दौड़े तो आश्चर्य ही क्या है। यह बात अलग है कि शास्त्रश्रवण या पठनपाठन करते समय थोड़ी देर के लिए मनुष्य की मति ठीक रहती है, परन्तु ससार के अधिकांश मनुष्यों की गति विषयो की तरफ ही बनी रहती है। महान् त्यागियों का मन भी क्षण भर में विषयो की ओर आकर्षित हो सकता है। इस प्रकार के विषयो की ओर से जो विमुख रहता है वह महान् विजेता है। दुस्तर नदी को पार करना कठिन है तो फिर विषयवासना रूपी नदी को पार करना तो बहुत कठिन है। अगर कोई मनुष्य पूर आई नदी को पार कर जाये तो वह कितना बड़ा तैराक कहलाएगा ?

इस विषय में महाभारत में एक उदाहरण प्रसिद्ध है। एक बार श्रीकृष्ण अमरकका नगरी के राजा पद्मनाभ को जीतकर लौट रहे थे। पाण्डव भी उनके साथ थे। श्रीकृष्ण ने पाण्डवों से कहा - तुम लोग आगे चलो, मैं पीछे आता हूँ। पाण्डव आगे-आगे चलने लगे। रास्ते में उन्होंने देखा कि गंगा नदी में तेज पूर आ रहा है। उन्होंने नाव पर चढ़कर गंगा नदी पार की और परले पार पहुँच गए। उसके बाद उन्होंने विचार किया - जिन्होंने पद्मनाभ राजा को हराया है वे श्रीकृष्ण महाराज कैसे पराक्रमी हैं और वे गंगा को किस प्रकार पार करते हैं, आज इस बात की परीक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार विचार कर उन्होंने नाव छिपा दी। 'विनाशकाले विपरीत बुद्धिः' इस कहावत के अनुसार पाण्डवों को उलटी बुद्धि सूझी।

पीछे से श्रीकृष्ण गंगा नदी के किनारे आये। उन्होंने देखा, गंगा में खूब जोरदार पूर आया है। गंगा को पार करने का और कोई उपाय नजर नहीं आता। ऐसी दुस्तर गंगा नदी को पाण्डव किस प्रकार पार कर गये। और जब वे गंगा नदी को पार कर गए तो पद्मनाभ से कैसे हार गए? इस दुस्तर महानदी को पार कर जाने वाला व्यक्ति पद्मनाभ से पराजित हो जाये, यह संभव नहीं है। इस प्रकार विचार कर श्रीकृष्ण ने एक हाथ में रथ लिया और दूसरे हाथ से नदी का पानी काटते हुए गंगा पार करने लगे। नदी में तैरते-तैरते बीच में उन्हें कुछ थकावट हुई। उस समय गंगा देवी ने प्रकट होकर उनके विश्राम के लिए स्थान बना दिया और श्रीकृष्ण से कहा—‘अगर आप आज्ञा दें तो मैं आपके लिए मार्ग बना दूँ अथवा नौका आदि की व्यवस्था कर दूँ।’ श्रीकृष्ण बोले—‘मुझे किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं है। अगर मैं नाव आदि की सहायता लेकर नदी पार करूँगा तो इसमें क्या विशेषता रहेगी? अपने पुरुषार्थ से ही मुझे नदी पार करनी चाहिए।’

श्रीकृष्ण अपने पुरुषार्थ के द्वारा गंगा नदी को पार करने में समर्थ हुए। पाण्डव उन्हें प्रणाम करके कहने लगे—‘आप धन्य हैं जो अपने पुरुषार्थ के प्रताप से इस महानदी को पार करने में समर्थ हो सके।’

श्रीकृष्ण ने उत्तर में कहा—‘इसमें आश्चर्य की क्या बात है? जब तुम लोग ही गंगा पार कर सके तो मेरे पार करने में आश्चर्य ही क्या है?’

पाण्डव बोले—‘हमने तो नौका से नदी पार की है।’

श्रीकृष्ण ने कहा— तो फिर मेरे लिए नौका क्यों नहीं भेजी ?

पाण्डव— अमरकका के राजा पद्मनाभ के विजेना में कितना पराक्रम है, यही देखने के लिए नौका नहीं भेजी थी ।

पाण्डवों का यह उत्तर सुनकर श्रीकृष्ण अत्यन्त क्रुद्ध हुए और कहने लगे तुम्हारे भीतर इतनी बड़ी घृष्टता है ! जब तुम लोग पद्मनाभ से हारकर लौटे थे और मैंने पद्मनाभ को हराया था, तब क्या तुमने मेरा पराक्रम नहीं देखा था ? तुम लोग मेरे राज्य में रहने योग्य ही नहीं हो, अतएव मेरे राज्य में से निकल जाओ ।

इस प्रकार कृष्ण को कुपित हुआ देख पाण्डवों को अत्यन्त पश्चात्ताप हुआ । माता कुन्ती आदि के प्रयत्न से श्रीकृष्ण की क्रोधाग्नि शांत हुई ।

कहने का आशय यह है कि जिन्होंने पूर आई नदी पार की उनमें कितना अधिक बल होगा ? इसी प्रकार विषयभोग की दुस्तर नदी को जो महापुरुष पार कर सकें, वे कितने बड़े वीर होंगे ?

यह तो विषयसुख पर विजय प्राप्त करने की बात हुई । परन्तु यहाँ यह देखना है कि विषयसुख से पराङ्मुख होने का फल क्या है ? विषयसुखों की ओर चित्त आकृष्ट न होना ही विषयसुखों से पराङ्मुख होना कहलाता है । विषयसुख से पराङ्मुख होने का ढोंग करना दूसरी बात है । किन्तु अगर सम्यक् प्रकार से कोई विषयसुख से विमुख हो जाये तो विषयों के प्रति उसके चित्त का आकृष्ट न होना स्वाभाविक है । विषयसुख से विमुख हुआ पुरुष अपने

में पापकर्मों का आगमन नहीं होने देता ।

विषयलालसा से ही प्रत्येक पाप की उत्पत्ति होती है । जिसमें विषयलालसा नहीं होती वह पापकर्म भी नहीं करता । अतएव विषयवासना से हटना पापकर्मों से हटने के समान है । पाप से दूर होने वाले जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं— एक सिद्ध होते हैं और दूसरे साधक होते हैं अर्थात् एक तो वे हैं जो विषयवासना से विमुख होकर पापरहित हो चुके हैं और दूसरे वे हैं जो विषयवासना से विमुख होकर पापरहित होने का प्रयत्न करते हैं । जो सिद्ध हो चुके हैं उनकी यहाँ चर्चा ही नहीं है क्योंकि सिद्ध के लिए किसी प्रकार के उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती । उपदेश तो साधक के लिए ही दिया जाता है । साधक को उन्मार्ग की ओर जाने से बचाने के लिए उपदेश दिया जाता है । साधको को यहाँ उपदेश दिया गया है कि अगर तुम पाप से बचना चाहते हो तो विषयवासना का त्याग करो ।

पाप सबको बुरा लगता है । कोई मनुष्य पापी कहलाना पसन्द नहीं करता । किसी को पापी कहा जाये तो वह नाराज हो जाता है । इस प्रकार कोई पापी नहीं बनना चाहता । परन्तु शास्त्र का कथन है कि वास्तव में पापी न बनना ही तो विषयवासना का त्याग करो । जो पुरुष विषयवासना का त्याग न करके भी अपने को निष्पाप कहलवाना चाहता है, वह चोरी करता है, भीतर और कुछ रखना और बाहर और कुछ दिखलाना यह चोरी है । इस प्रकार की चोरी न करते हुए विषयवासना से विमुख होने का प्रयत्न करना चाहिए ।

पाप मुख्य रूप से अठारह प्रकार के हैं। यह सब पाप विषयवासना से ही उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—हिंसा का पाप वही व्यक्ति करता है, जिसमें विषयलालसा होती है। प्राणियों के प्राणों को नष्ट करना हिंसा है। परन्तु इस क्रिया को हिंसा के अन्तर्गत कब माना जा सकता है ? इस सम्बन्ध में कहा है—

**प्रमत्तयोगात् प्राणव्यरोपणं हिंसा ।**

अर्थात्—प्रमाद से या विषयपोषण के लिए किसी प्राणी के प्राणों को नष्ट करना हिंसा-पाप है। अगर जीव मर जाने मात्र से हिंसा को पाप मान लिया जाये तो तेरहवें गुणस्थान में स्थित पुरुष के शरीर से भी जीव मरते हैं, अतएव उन्हें भी हिंसा का पाप लगाना चाहिए क्योंकि योगों की चपलता से जीवों को आघात पहुँचना या उनकी मृत्यु हो जाना स्वाभाविक है। देखना तो यह चाहिए कि जीव के प्राणघात में हेतु क्या है ? जो हिंसा प्रमाद से या विषय-पोषण के उद्देश्य से की जाती है वही हिंसा पाप के अन्तर्गत कही जा सकती है।

कुछ लोगों को ऐसी शका होती है कि जब सम्पूर्ण आकाश जीवों से व्याप्त है और शरीर के द्वारा जीवों का मरण होना भी स्वाभाविक है, तो फिर पूर्ण अहिंसक किस प्रकार हो सकते हैं ? इस शका का समाधान यह है कि मुनि के शरीर से जीवों का मर जाना स्वाभाविक है, परन्तु प. ले यह देखना चाहिए कि उनका उद्देश्य क्या है ? क्या उनका उद्देश्य जीवों को मारना है ? वस्तुतः हिंसा वही है जो प्रमाद के योग से की जाती है या विषयपोषण के लिए

की जाती है । इसके अतिरिक्त जो हिंसा होती है उसकी गणना पाप में नहीं की जाती । उदाहरणार्थ कोई मुनि यदि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से चल रहा हो फिर भी कोई जीव अचानक उसके पैर के नीचे आकर मर जाये तो उसमें हिंसा का पाप लगना नहीं माना जाता । इसके विपरीत अगर कोई मुनि ईर्यासमितिपूर्वक यतना से न चल रहा हो और कोई जीव न मरे तो भी उसे हिंसा का पाप लगता है क्योंकि हिंसा प्रमाद से होती है अर्थात् प्रमाद हिंसा है ।

हिंसा का पाप विषयलोलुपता से ही होता है । इसी प्रकार असत्य आदि दूसरे पाप भी विषयलोलुपता के कारण ही उत्पन्न होते हैं । इन पापों से बचने के लिए विनिवर्त्तना करने की अर्थात् विषयसुख से विमुख होने की आवश्यकता है । विषयवासना से विमुख हो जाने वाला पापकर्मों में प्रवृत्ति नहीं करेगा ।

पूर्ण सत्य तो केवल आदर्श रूप है । जो वस्तु जैसी हो, वह वैसी ही कही जाये अर्थात् बोलने में एक भी अक्षर का अन्तर न पड़े, वह पूर्ण सत्य है । पूर्ण ज्ञानी ही पूर्ण सत्य कह सकते हैं । प्रश्न किया जा सकता है कि पूर्ण ज्ञानी ही अगर पूर्ण सत्य बोल सकते हैं तो दूसरे लोगो को कैसा सत्य बोलना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर से शास्त्रकार कहते हैं कि हृदय में विषयभावना या वास्तविकता के विरुद्ध बोलने का भाव न हो तो इस दशा में जो कुछ भी बोला जाता है, वह भी सत्य ही है । श्री आचाराग सूत्र में कहा है—

समयं ति मग्नमाणे समया या असमया वा समया



होइ उवेहाए ।

अर्थात्—मन मे ममता हो फिर मुख से कदाचित् विषम शब्द भी निकल जाये तो वह भी सत्य ही है, क्योंकि बोलने वाले का आशय खराब नहीं है ।

शास्त्र के इस कथन से यह बात स्पष्ट समझी जा सकती है कि खराब आशय और विषयवासना रखे बिना जो कुछ बोला जाता है वह भी सत्य है । जो इस प्रकार सत्य वचन बोलता है और असत्य का त्याग करता है वह किसी दिन पूर्ण सत्य को भी प्राप्त कर सकता है । जैसे रेखागणित मे मध्यरेखा की कल्पना की जाती है, उसी प्रकार हमारे लिए पूर्ण सत्य तो कल्पना के समान प्रतीत होता है । किन्तु जैसे रेखागणित मे मध्यरेखा की लम्बाई-चौड़ाई न होने पर भी मानी जाती है—माननी पड़ती है, उसी प्रकार सत्य मे भी पूर्ण सत्य का आदर्श मानना आवश्यक है । कहने का आशय यह है कि असत्य का पाप भी विषयलालसा से ही उत्पन्न होता है ।

तीसरा पाप चोरी का है । चोरी का पाप भी विषय-लोलुप मनुष्य ही करता है । जिसने विषयवासना पर विजय प्राप्त कर ली है वह चोरी नहीं करेगा । अर्थात् विषय-विजयी पुरुष चोरी का पाप नहीं करता । चोरी मे केवल दूसरो की चीजो को बिना अधिकार लेने का ही समावेश नहीं होता परन्तु अपना या दूसरो का विकास रोकना भी चोरी ही है । तुम श्रावक हो-गृहस्थ हो, अतएव तुम पूरी तरह चोरी से निवृत्त नहीं हो सकते अतएव तुम्हे स्थूल चोरी से निवृत्त होने के लिए कहा गया है । अर्थात् तुम्हारे

लिए ऐसी चोरी करने की मनाई की गई है जिससे राज्य या समाज के नियमों का उल्लंघन होता हो अथवा जिसे राज्य या समाज चोरी मानता हो। पूर्ण चोरी में तो रास्ते में पड़े हुए एक छोटे-से तिनके को भी बिना पूछे लेने का समावेश हो जाता है। पर तुमने अगर रास्ते में पड़ी हुई तिनका जैसी मामूली वस्तु ले ली हो तुम्हें तो राज्य या समाज द्वारा दण्ड नहीं दिया जाता। ऐसा करना चोरी में भी नहीं गिना जाता। अतएव शास्त्रकारों ने भी ऐसे कृत्य को स्थूल चोरी में नहीं गिना है, अलबत्ता सूक्ष्म चोरी में उसकी गणना की गई है। तुम्हें ऐसी सूक्ष्म चोरी का त्याग करने के लिए कहा गया है। परन्तु राजा ने पत्थरों की खान में से पत्थर लेने की मनाई कर दी हो और तुम राजा की आज्ञा लिए बिना पत्थर ले आओ तो वह स्थूल चोरी है। इस प्रकार जिस चोरी से राजाज्ञा या समाजज्ञा का भंग नहीं होता वह स्थूल चोरी नहीं है और तुम्हें स्थूल चोरी त्यागने के लिए ही कहा गया है। हाँ, यह बात दूसरी है कि राजा के बनाये हुए कानून योग्य हैं या नहीं, और उनका पालन करना उचित है या नहीं, परन्तु राजा के किसी अयोग्य कानून का भी अगर तुम छिपकर भी भंग करते हो तो तुम्हारा यह कार्य स्थूल चोरी में गिना जा सकता है। तुम्हें कोई कानून खराब और हानिकारक प्रतीत होता हो तो तुम उसे खराब कहकर सविनय कानूनभंग की भाँति उल्लंघन कर सकते हो। अगर कानून बुरा न हो और छिपकर उसका भंग करो तो यह कार्य स्थूल चोरी में गिना जा सकता है।

कदाचित् तुम कहोगे कि शास्त्र में राजा के विरुद्ध

कार्य करना निषिद्ध है, तो फिर राजा का कानून किस प्रकार भग किया जा सकता है ? इसका उत्तर यह है कि शास्त्र में जो 'विरुद्ध ज्जाइकम्मे' कहा गया है, उसका अर्थ राजा के विरुद्ध काम न करना नहीं वरन् राज्यविरुद्ध कार्य न करना है । राज्य का अर्थ सुव्यवस्था है । सुव्यवस्था का भग करने की मनाई की गई है । परन्तु राजा के खराब कायदे का भग करने की मनाई नहीं की गई । मान लो कि किसी राजा ने अपना भंडार भरने के लिए यह कानून बनाया कि प्रत्येक प्रजाजन को प्रतिदिन एक-एक प्याला शराब पीनी चाहिए जिससे राज्य की आय में वृद्धि हो । तो क्या राजा के इस आदेश का पालन किया जायेगा ? ऐसे आदेश का विरोध करना घर्म हा जाता है परन्तु छिपकर किसी कानून का भग करना चोरी है । अगर कोई कानून वास्तव में बुरा है तो प्रकट रूप से उसे भग करना चाहिए, छिप कर नहीं । 'विरुद्धरज्जाइकम्मे' का अर्थ है सुव्यवस्था के विरुद्ध कोई काम न करना । इस शास्त्रकथन का यह अर्थ नहीं कि दुर्व्यवस्था के विरुद्ध भी कोई कार्य न किया जाये । जहा दुर्व्यवस्था है वहाँ राज्य नहीं है, ऐसा समझना चाहिए । राजा अगर न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करता हो तो उसके न्याय को शिरोधार्य करना ही चाहिए । अगर राजा अन्याय करता हो तो उस अन्याय को दूर करने के लिए नैतिक बल से उसका विरोध करना ही कत्तव्य है ।

आज लोगो में नैतिक बल की कमी है और जिनमें नैतिक बल की कमी होती है, उनसे भलीभाँति घर्म का पालन नहीं हो सकता । 'नैतिक बल होने पर ही घर्म का पालन हो सकता है । यह बात स्पष्ट करने के लिए एक

ऐतिहासिक उदाहरण दिया जाता है ।

जिस समय की बात कह रहा हूँ, उस समय भारत में अंगरेजी राज्य फैल गया था । उस समय रामचन्द्र नामक एक सिख गुरु सत्य का उपदेश देकर धर्मप्रचार कर रहा था । सत्य का पालन करो, बस यही उसके उपदेश का मूल मंत्र था । अपने मन को न ठगना ही सत्य है ऐसा वह अपने उपदेश में कहता था । रामचन्द्र गुरु के इस उपदेश की जनसमाज पर अच्छी छाप पड़ी और बहुत-से लोगो ने सत्य का पालन करने की प्रतिज्ञा ली । सत्यपालन की प्रतिज्ञा लेने वालो में कूका नामक एक जाट भी था । वह जाट भी रामचन्द्र का शिष्य बन गया और सत्य बोलने का अभ्यास करने लगा ।

उन दिनों अम्बाला में हिन्दुओ को सताने के लिए मुसलमानो ने गायो को कत्ल करना आरम्भ किया । मुसलमानो ने विचार किया— इस समय अंगरेजो का राज्य है, इस कारण कोई किसी के धर्म में विक्षेप नहीं कर सकता । प्रत्येक मनुष्य अपना अपना धर्म पालने में स्वतन्त्र है । इस प्रकार विचार कर उन मुसलमानो ने गायो का एक जुलूस निकाला और उन्हे कत्ल करने के लिए नियत स्थान पर ले गए । हिन्दुओ ने ऐसा दुष्कृत्य न करने के लिए उन्हे बहुत समझाया पर उन्हीने एक न सुनी । तब कुछ हिन्दुओ ने विचार किया कि समझाने-बुझाने पर भी गायो को कत्ल करने वाले यह मुसलमान अपनी करतूत से वाज नहीं आते, ऐसी हालत में रात्रि के समय इन्हें मार डालना चाहिए । कूका जाट ने और दूसरे हिन्दुओ ने रात के समय उन पर हमला कर दिया और निद्रावस्था में ही उन्हे मार

डाला । यह समाचार जब रामचन्द्र गुरु के पास पहुँचा तो उन्होंने ऐसा कृत्य करने वालों की निंदा की और ऐसा करना कायरता है, यह घोषणा की । रत्रि के समय निद्रावस्था में किसी को मार डालना वीरता नहीं, कायरता ही है ।

हिन्दू और मुसलमानों के बीच जो क्लेश हुआ सो कचहरी तक पहुँचा । पुलिस ने कितने ही आदमियों की घरपकड़ की । मगर जो लोग पकड़े गये थे, उनमें बहुत से निरपराध थे । सरकार को यह विश्वास हो गया था कि हिन्दुओं ने मुसलमान कसाइयों को मारा है । इस विश्वास के कारण न्यायाधीश ने सभी पकड़े जाने वालों को प्राणदंड की सजा दे डाली । जब रामचन्द्र गुरु के कानों तक यह बात पहुँची तो उन्होंने कहा — यह तो बहुत बुरा हुआ । बेचारे निर्दोष मनुष्य मारे जाएँगे । जिन्होंने मुसलमानों को मारा है वही लोग अगर अपना अपराध स्वीकार कर लें तो निर्दोष लोगों के प्राण बच सकते हैं । अपना अपराध स्वीकार कर लेना भी वीरता ही है । रामचन्द्र गुरु का यह कथन कूका जाट ने सुना । कूका ने गुरु से कहा — आपने मुझे सत्य बोलने की शिक्षा और प्रतिज्ञा दी है । अगर कोई मुझसे पूछे तो मुझे सत्य ही बोलना चाहिए, यह बात मैं पसन्द करता हूँ । इसी कारण अपराधी होने पर भी मैं कुछ कहता-बोलता नहीं हूँ । अब आप कहते हैं कि अपना अपराध स्वीकार करना भी सत्य और वीरता है, तो मैं आपके समक्ष स्वीकार करता हूँ कि जो लोग पकड़े गये हैं और जिन्हें मौत की सजा मिली है उन्होंने कसाइयों की हत्या नहीं की । कसाइयों की हत्या मैं और मेरे साथियों ने की है । इस समय जो लोग पकड़े गये हैं वे बेचारे निर्दोष हैं ।

कूका की बात सुनकर रामचन्द्र गुरु बोले — अगर वास्तव में यही बात है और तुमने सत्य की प्रतिज्ञा ली है तो तुम सरकार के पास जाकर अपना अपराध स्वीकार कर लो और निरपराध लोगों के प्राण बचाओ ।

रामचन्द्र गुरु का कथन सुनकर कूका ने कहा — मैं अपना अपराध तो स्वीकार कर लूँगा मगर अपने साथियों के नाम नहीं बताऊँगा । क्योंकि मैंने उन्हें वचन दिया है कि अगर मैं पकड़ा गया तो भी उनका नाम नहीं बताऊँगा । रामचन्द्र गुरु बोले — तुम सरकार को यही उत्तर देना कि मैंने और मेरे साथियों ने यह दुष्कृत किया है, मगर मैं अपने साथियों के नाम बताने की स्थिति में नहीं हूँ । हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इस समय जिन लोगों को अपराधी समझकर मौत की सजा बोली गई है, वे लोग निर्दोष हैं ।'

कूका ने गुरु से पूछा— तो क्या मैं स्वयं ही सरकार के पास चला जाऊँ ? गुरु ने कहा—अगर तुमने सत्य बात को स्वीकार करने का साहस है तो फिर सरकार के सामने अपना अपराध स्वीकार करने में क्या बाधा है ?

कूका पुलिस-प्रधान के पास जा पहुँचा । उसने अपना अपराध स्वीकार किया । पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया । पुलिस के अनेक प्रलोभन देने पर भी उसने अपने साथियों के नाम प्रकट नहीं किये । पुलिस ने यहाँ तक कहा कि अगर तू अपने साथियों के नाम प्रकट कर दे तो तू फाँसी की सजा से बच जायगा । मगर कूका अपने निश्चय से विचलित नहीं हुआ । उसने कहा—आप मुझे फाँसी पर चढ़ा सकते हैं, मगर मैं अपने साथियों के नाम जाहिर नहीं

कर सकता ।

कहने का आशय यह है कि कूका ने सत्य की प्रतिज्ञा पालने के लिए अपने प्राण दे दिये । यह तो ऐतिहासिक घटना है । आर्हत दर्शन में तो सत्य को ही प्रधान पद दिया गया है । परन्तु तुम लोग जैनदर्शन के श्रद्धालु होते हुए भी, नैतिक बल के अभाव में, दूसरो को बुरा न लगने देने के लिए भी असत्य बोलते हो । वस्तव में वही सत्यभाषी हो सकता है, जिसमें साहस विद्यमान हो । जिसमें साहस नहीं, वह सत्य नहीं बोल सकता । सत्यभाषण में सदैव लाभ ही है ।

सारांश यह है कि जिस व्यक्ति में विषयलालसा होती है, उसी के द्वारा हिंसा, असत्य, चोरी आदि पापकर्म होते हैं । विषयवासना से विमुख हो जाने पर पापकार्य नहीं होते । जो व्यक्ति विषयलालसा का त्याग कर देगा, वह किसलिए पाप करेगा ? अतएव पापकर्मों से बचने के लिए सर्वप्रथम विषयलालसा पर विजय प्राप्त करो । विषयलालसा को जीत कर मन को जितना अधिक पवित्र बनाओगे, तुम परमात्मा के उतने ही अधिक समीप पहुँच जाओगे । कदाचित् पहले के कोई कर्म बचे होंगे तो उनकी भी निर्जरा हो जाएगी । पापकर्मों को दूर करने के लिए, पापकर्मों की जड़-विषयलालसा का उच्छेद करने का प्रयत्न करो । अगर तुम विषयवासना को जीतने जाओगे और व्रतपालन में दृढ़ रहोगे तो परमात्मा का साक्षात्कार होगा और आत्मा का कल्याण होगा । स्मरण रहे, पाप को छिपाने से पाप दूर नहीं होता । कदाचित् पाप हो जाये तो उसे छिपाओ मत । उसे हटाने का प्रयत्न करो । ससार के जाल में से छूटने का यही मार्ग है ।

# तेतीसवां बोल

## संभोगप्रत्याख्यान



विषयसुख से पराङ्मुख होना भी परमात्मा के प्रति एकनिष्ठा प्रीति का एक उपाय है । जो लोग विषयसुख से पराङ्मुख हो जाते हैं, उनके भाव उच्च बनते हैं, उनकी परमात्मप्रीति दृढ़ होती है और वे संभोग का त्याग करके स्वावलम्बी बनते हैं । अतएव गौतम स्वामी अब यह प्रश्न पूछते हैं कि संभोग का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

### मूलपाठ

प्रश्न संभोगपच्चक्खाणेणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर — संभोगपच्चक्खाणेणं आलंबणाइं खवेइ, निरालंबणस्स य आयट्ठिया जोगा भवंति, सएणं लाभेणं सतुस्सइ, परस्म लाभ नो आसाएइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ, परस्स लाभं अणासाएमाणे अतक्केमाणे अपीहेमाणे अपत्थेमाणे अणभिलसेमाणे दुच्चं सुहसेज्ज उवसंपज्जित्ता णं विहरइ ॥३३॥



## शब्दार्थ

प्रश्न - भगवन् ! सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर - हे गौतम ! सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव परावलम्बन का क्षय करता है और उस स्वावलम्बी जीवात्मा के योग उत्तम अर्थ वाले हो जाते हैं। वह आत्म-लाभ से ही सन्तुष्ट रहता है, पर के लाभ की आशा नहीं करता, एव कल्पना, स्पृहा, प्रार्थना अथवा अभिलाषा भी नहीं करता। इस प्रकार जीवात्मा अस्पृही-अनभिलाषी बनकर उत्तम प्रकार की दूसरी सुखशय्या पाकर विचरता है।

## व्याख्यान

सभोग का प्रत्याख्यान करने से जीव को होने वाले लाभ का विचार करने से पहले यह विचार कर लेना आवश्यक है कि सभोग का अर्थ क्या है ?

जिस समान मिलन से अपना और दूसरो का कल्याण होता हो, उस समान मिलन को सभोग कहते हैं। इसके विपरीत जिस मिलन से स्व-पर का अकल्याण होता हो वह विसभोग कहलाता है। मिलन चार प्रकार का है। श्रीस्थानागसूत्र में मिलन की चौभगी बनाकर कहा गया है—

(१) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभकारक होता है किन्तु लम्बे समय के लिए हानिकारक होता है।

(२) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए लाभप्रद होता है और थोड़े समय के लिए हानिकर होता है।

(३) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी लाभकारक होता है और थोड़े समय के लिए भी लाभकारक होता है ।

(४) किसी पुरुष का मिलन लम्बे समय के लिए भी हानिकर होता है और थोड़े समय के लिए भी हानिकर होता है ।

यहाँ जो बात कही गई है, वह साधुओं से सम्बन्ध रखती है । साधुओं में कोई सभोगी और कोई विसभोगी होता है । शास्त्र में सभोगी और विसभोगी दोनों प्रकार के साधु कहे गये हैं । कुछ लोगों का कहना है कि साधु होने के बाद साधुओं में आपस में भेद क्यों रखा जाता है ? साधुओं को तो एक-रूप हो जाना चाहिए । उन्हें एक साथ ठहरना और एक साथ आहार करना चाहिए । ऐसे लोगों को समझना चाहिए कि यह कथन एकान्तत ठीक होता तो शास्त्र में साधुओं के सभोगी और विसभोगी भेद न किये गये होते । शास्त्र में कहा है कि किसी के साथ सभोग करने से गुण की वृद्धि होती हो तो वह सभोग रखना चाहिए, अन्यथा विसभोगी होकर रहना ही अच्छा है । अगर किसी के सभोग से अपने गुणों की हानि होती हो तो उस सभोगी को भी विसभोगी बना लेना चाहिए । साधुओं में से कोई साधु अगर साधुता के मार्ग से हट गया हो तो उसे यही कहा जा सकता है कि तुम साधुता का मार्ग अंगीकार करो अन्यथा हम तुमसे विसभोगी बन जाएँगे ! जहाँ शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सब साधुओं को एक-रूप होकर ही रहना चाहिए !

मान लीजिए, कोई आदमी अपनी थाली में कन्दमूल लेकर भोजन करने बैठा है और तुम कन्दमूल के त्यागी होने के कारण अलग थाली में भोजन करने बैठे हो । अब वह आदमी तुमसे कहता है 'मेरे साथ ही भोजन करने बैठो ।' तुमने उत्तर दिया— 'मैं कन्दमूल का त्यागी हूँ, अतएव तुम्हारे साथ एक ही थाली में भोजन करने कैसे बैठ सकता हूँ ? अगर तुम अपनी थाली में से कन्दमूल हटा दो तो मैं तुम्हारे साथ जीमने बैठ सकता हूँ ' तब वह आदमी कहता है— 'मैं अपनी थाली में से कन्दमूल नहीं हटा सकता ? ऐसी स्थिति में तुम उसे क्या उत्तर दोगे ? तुम यही कहोगे कि अगर तुम्हें ऐसा ही करना है तो हम लोग अलग-अलग ही जीमने बैठें यही ठीक है । इस प्रकार जब तुम अलग जीमने बैठे तो वह कहता है— 'तुम अलग बैठकर आपस में फूट फैलाते हो ।' इस कथन का उत्तर यही दिया जा सकता है कि— कुछ भी हो, केवल तुम्हें मनाने के लिए मैं अपने नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता ।

इस प्रकार यदि तुम भी अपने नियम का पालन करने के लिए असमान आहार-विहार करने वाले के साथ भोजन करने नहीं बैठ सकने, तो फिर साधुता के नियमों का ठीक तरह पालन न करने वाले साधुओं के साथ हम सभोग कैसे चालू रख सकते हैं ? कोई मोती असली और कोई नकली होता है । तो क्या असली और नकली मोती को एक सरीखा माना जा सकता है ? क्या असली और नकली मोती को एक ही हार में पिरोया जाना उचित है ? अगर नहीं, तो फिर साधुओं के विषय में भी यही समझ लेना चाहिए । निश्चय में तो कौन मोक्ष प्राप्त करेगा, यह नहीं कहा जा

सकता, परन्तु व्यवहार में तो देखना ही पड़ता है कि अमुक साधु में साधुता का गुण है या नहीं ? जो साधु समान रूप से साधुता के नियमों का पालन करते हैं, उनके साथ तो सभोगव्यवहार चालू रह सकता है, परन्तु जो साधु साधुता के नियमों की अवहेलना करते हैं, उनके साथ सभोगव्यवहार किस प्रकार चालू रह सकता है ?

सभोग किसे कहना चाहिए, इस विषय में टीकाकार कहते हैं कि एक मंडल में बैठकर साथ-साथ आहार करना सभोग कहलाता है । ऐसा करने से अपने गुणों का लभ होता हो तो सभोग चालू रखना उचित है । अगर गुणों की हानि होती हो तो विसभोगी बनकर रहना ही अच्छा है । विसभोग का तो त्याग नहीं होता, परन्तु सभोग का ही त्याग होता है । अतएव यहाँ सभोग के त्याग करने का ही फल पूछा गया है । परन्तु यहाँ विशेष रूप से देखना यह है कि किस दशा में सभोग का त्याग किया जा सकता है ? इस विषय में शास्त्र में कहा गया है कि साधु जब भली-भाँति पट-लिखकर गीतार्थ हो गया हो, तब वह जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी अन्य उच्च वृत्ति का धारक बन कर सभोग का त्याग कर सकता है, अन्यथा नहीं ।

कतिपय एकलविहारी साधु शास्त्र में वर्णित सभोग त्याग का उल्लेख करके कहते हैं कि हमने भी शास्त्र के कथनानुसार सभोग का त्याग किया है और हम अकेले रहते हैं । परन्तु ऐसा कहने वाले एकलविहारी साधु शास्त्र के नाम पर धोखा देते हैं और अपना बचाव करते हैं । श्री-स्थानांगिसूत्र में स्पष्ट कहा है—

अट्टहि ठाणेहि संपन्ने अणगारे अरही एगलविहारी  
पडिमं उवसपज्जिता ण विहरिताए ।

अर्थात् जिस साधु में आठ गुण हो, वही साधु पडिमा धारण करके अकेला रह सकता है । परन्तु जिसमें यह आठ गुण न हो वह अकेला नहीं रह सकता । इस पर से यह बात समझने योग्य है कि साधु कब और कैसी अवस्था में अकेला रह सकता है ? जिन गुणों की विद्यमानता में सभोग का त्याग करना बतल या गया है, वह गुण अपने में न होने पर भी सभोग का त्याग करके अकेला रहना और फिर शास्त्र की आड में अपना झूठा बचाव करना सर्वथा अनुचित है । एकलविहारी साधु शास्त्र का प्रमाण पेश करते हैं और शास्त्र का प्रमाण तुम्हें भी मान्य होना चाहिए । तुम भी श्रावक हो । शास्त्र में कहा है —

निगगथे पावयणे पुरओ काउ विहरति ।

अर्थात्—साधु और श्रावक निग्रन्थ प्रवचन को समक्ष रखकर विचरते हैं । अतएव तुम भी शास्त्र का अध्ययन करो और देखो कि किस अवस्था में साधु अकेला रह सकता है । अगर तुम शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करोगे तो कोई एकल-विहारी साधु शास्त्र का नाम लेकर तुम्हें ठग नहीं सकेगा ।

तत्पर्य यह है कि जो साधु गीतार्थ हो चुका हो, वही जिनकल्पी, प्रतिमाधारी या किसी उच्च वृत्ति का धारक बनने के लिए सभोग का त्याग कर सकता है और उग्र विहार कर सकता है । साधु जिनकल्पी हो, प्रतिमाधारी हो या किसी उच्च वृत्ति का धारण करने की इच्छा वाला हो तो ही वह सभोग का त्याग कर सकता है । ऐसे उच्च

साधु को, ऐसे अवसर पर सभोग का त्याग क्यों करना पड़ता है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाता हूँ--

कल्पना करो, एक मनुष्य व्याज-वट्टे का घन्धा करता है । उसने अधिक लाभ की इच्छा से अपना घन्धा बन्द करके जवाहरात का व्यापार करने का विचार किया । व्याज-वट्टे के घन्धे में उसे लाभ तो होता था, परन्तु उत्कृष्ट लाभ प्राप्त करने के लिए उसे व्याज का घन्धा बन्द करना आवश्यक हो गया । इसी प्रकार जब कोई उच्च श्रेणी का लाभ होता हो तभी सभोग का त्याग किया जाता है । सभोग का त्याग करने का अर्थ यह नहीं है कि सभोग में ही रहना बुरा है । साधारण रूप से तो साधु को सभोग में ही रहना चाहिए, परन्तु अगर अपने में विशिष्ट शक्ति हो और उत्कृष्ट लाभ पाना हो तो सभोग का त्याग करना लाभप्रद है ।

सभोग का त्याग करने में जीव को क्या लाभ होता है, यह प्रश्न गीतम स्वामी ने भगवान् में पूछा है । इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं-- सभोग का त्याग करने से जीव आलम्बन रहित बनता है । साधु जब सभोग में रहता है तो अन्य साधुओं का सहारा रहता है । वह सोचता है-- 'मैं बीमार हो जाऊँगा तो जिन साधुओं के साथ मैं सभोग करता हूँ, वे साधु मेरी सेवा करेंगे ।' सभोग का त्याग कर देने से उसे इस प्रकार का आलम्बन नहीं रह जाता ।

मृगापुत्र की माता ने मृगापुत्र से कहा था - हे पुत्र ! तू दीक्षा तो लेता है, मगर दीक्षा के बाद 'दुःख निष्पट्टि-कम्मया' अर्थात्-जिनकल्पी आदि दशा प्राप्त होने के पश्चात् जब

बीमारी उत्पन्न होती है तो बड़ी ही कठिनाई उपस्थित होती है । क्योंकि जिनकल्पी होने के बाद बीमारी मिटाने के लिए दवा भी नहीं ली जा सकती ।

माता के इस कथन के उत्तर में मृगापुत्र ने कहा—  
हे माता ! ऐसा दुःख आलम्बन लेने वाले को ही होता है । जो आलम्बन का त्याग कर चुकता है उसे दुःख का अनुभव नहीं होता । मैं राजपुत्र हूँ, इस कारण मेरी चिकित्सा हो सकती है, परन्तु ससार में ऐसे अनेक प्राणी हैं जिनकी बीमारी दूर करने के लिए दवा ही नहीं की जाती । वन में रहने वाले मृगों को जब बीमारी होती है तो वे वन में क्या करते हैं ? वे मृग एकान्त में किसी वृक्ष के नीचे बैठ जाते हैं और जब तक रोग शांत नहीं हो जाता तब तक वहीं बैठे रहते हैं । रोग शांत हो जाने पर वे स्वयं उठकर चरने चले जाते हैं । उन मृगों को यह आशा ही नहीं होती कि कोई आकर हमारी सेवा करेगा और यह आशा न रखने के कारण उन्हें किसी प्रकार का दुःख नहीं होता । मैं भी उन मृगों के समान निरालम्बी रहूँगा और निरालम्बी रहने के कारण व्याधि उत्पन्न होने पर भी मुझे भी दुःख नहीं होगा ।

इस प्रकार सभोग का त्याग करने से साधु निरालम्ब बनता है । निरालम्ब बनने का अर्थ ही सभोग का त्याग करना है । ऐसा नहीं होना चाहिए कि सभोग का त्याग करने वाला, साधुओं का आलम्बन तो न लेवे और उसके बदले गृहस्थों का आलम्बन ले और उनसे अपनी सेवा करावे । कहा जा सकता है कि गृहस्थों का आलम्बन लिए बिना

हमारा काम नहीं चल सकता, क्योंकि हममें ऐसी शक्ति ही नहीं है कि दूसरे के आलम्बन के बिना ही हम अपना काम चला सकें । ऐसा कहने वाले को यही उत्तर देना चाहिए कि अगर तुममें आलम्बन लिये बिना काम चलाने की शक्ति ही नहीं है तो तुमने सभोग का त्याग ही क्यों किया ? और जब तुमने सभोग का त्याग कर दिया है तो सभोगत्याग का उद्देश्य ही निरालम्बी बनना है । अब किसी का आलम्बन लेने की क्यों आवश्यकता होनी चाहिए ?

भगवान् कहते हैं— सभोग का त्याग करने से निरालम्बी बन सकते हैं । श्रवलम्बन लेने से तिरस्कारवृत्ति उत्पन्न होती है । अतएव सभोग का त्याग करने वाला स्वावलम्बी बनता है अर्थात् किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता । कवि कालीदास ने रघुवशी राजा का वर्णन करते हुए कहा है—

स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः

अर्थात्— अपनी रक्षा करने में आप समर्थ होने के कारण रघुवशी राजा अकेला बन में गया ।

यद्यपि राजा व्यावहारिक दृष्टि से अपने साथ रक्षक रखता था परन्तु उसे अपने ऊपर ऐसा विश्वास था कि रक्षक मेरी रक्षा नहीं कर रहे हैं, वरन् मैं स्वयं इतना समर्थ हूँ कि रक्षकों की भी रक्षा कर सकता हूँ । इस प्रकार वह रघुवशी राजा अपनी और दूसरों की रक्षा करने में समर्थ था और इसी कारण वह अकेला ही बन में गया था ।

इस प्रकार जिसमें आलम्बनरहित रहने की क्षमता होती है और जो किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता,



चही संभोग का त्याग कर सकता है । अतः आलम्बन का त्यागी ही संभोग का त्यागी कहलाता है ।

प्रजा उसी राजा को सन्मान करती है जो राजा अपनी और प्रजा की रक्षा करने में समर्थ होता है । जो राजा स्वयं अपनी सेवा दूसरो से कराता हो उसे प्रजा कायर कहेगी और उसका प्रजा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा । इसी प्रकार स्वावलम्बी होने से और अपनी रक्षा में स्वयं-मेव समर्थ होने से और दूसरे की सहायता की अपेक्षा न रखने से ही साधु संभोग का त्यागी कहलाता है ।

जो व्यक्ति अपना काम आप करके दूसरो को काम करने में समर्थ होता है, वही व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और दूसरो पर अपना प्रभाव भी डाल सकता है । यह बात एक प्राचीन उदाहरण द्वारा समझो ।

विराट-नगरी में अज्ञातवास समाप्त करके पाण्डव अभी प्रकट हुए थे । वे अपनी प्रसिद्धि करने के लिए अभि-मन्यु का विवाह उत्तरा के साथ धूमधाम के साथ कर रहे थे । इस विवाहोत्सव में भाग लेने के लिए श्रीकृष्ण की कई रानियाँ भी विराट-नगरी में आई हुई थी । विवाहोत्सव सानन्द सम्पन्न हो जाने के बाद जब श्रीकृष्ण की रानियाँ वापिस द्वारिका लौटने लगी तो द्रौपदी उन्हें विदा करने गई । श्रीकृष्ण की पटरानी सत्यभामा बहुत भौली थी । इसीलिए 'भौली भामा' की कहावत प्रसिद्ध हो गई है । भौली सत्यभामा ने रास्ते में द्रौपदी से कहा—मैं तुमसे एक बात पूछना चाहती हूँ । द्रौपदी ने उत्तर में कहा—तुम मुझसे बड़ी हो और तुम्हे मुझसे प्रत्येक बात पूछने का अधिकार

है । तब सत्यभामा ने द्रौपदी से पूछा—‘मेरे एक ही पति हैं, फिर भी वह मेरे वश में नहीं रहते, और तुम्हारे पांच पति हैं फिर भी वे पाँचो तुम्हारे वश में रहते हैं । अतएव मैं पूछना चाहती हूँ कि क्या तुम्हारे पास कोई ऐसा वशीकरण मन्त्र है, जिसके प्रभाव से तुम पांचो पतियों को अपने वश में रख सकती हो ? अगर ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती होओ तो मुझे भी वह मन्त्र सिखादो न ?’

द्रौपदी ने उत्तर दिया—‘मैं ऐसा वशीकरण मन्त्र जानती हूँ, परन्तु जान पड़ता है, कोमलान्गी होने के कारण तुम वह मन्त्र साध नहीं सकोगी ।

सत्यभामा कहने लगी—‘मैं उस मन्त्र को अवश्य साध सकूंगी । मुझे अवश्य वह मन्त्र बता दो । मुझे उसकी बड़ी आवश्यकता है ।

ऐसे वशीकरण मन्त्र की आवश्यकता किसे नहीं होती ? उसे तो सभी चाहते हैं । पिता पुत्र को, पुत्र पिता को, पति पत्नी को, पत्नी पति को और इस प्रकार सभी एक दूसरे को अपने वश में करना चाहते हैं । मगर यह मन्त्र जब साध लिया जाये तभी सब को वश में किया जा सकता है ।

द्रौपदी ने सत्यभामा से कहा मैं वशीकरण मन्त्र द्वारा सब को अपने वश में रखती हूँ । वह मन्त्र यह है कि स्वयं दूसरे के वश में रहना । इस मन्त्र से जिसे चाहो उसे वश में कर सकती हो । इस मन्त्र को साधने का उपाय मेरी माता ने मुझे सिखाया है । मन्त्र साधने की विधि बतलाते हुए मेरी माता ने कहा था—‘पति के उठने से पहले उठ जाना ।’ फिर पति की आवश्यकताएँ अपने हाथ से पूरी

करना । दास दासियों के भरोसे न बैठी रहकर सब काम अपने हाथ से करना और दाम-दासी की अपेक्षा अपने आपको बड़ी दासी समझना । इस प्रकार अपने को नम्र बनाकर सब काम करना । बड़ो-बूढ़ो की मर्यादा रखना । सब की सेवा शुभ्रूषा करना और मव को भोजन कराने के बाद आप भोजन करना । इसी प्रकार सब के सो जाने-पर सोना । काम करते करते फुरसत मिल जाये तो सब को कर्त्तव्य और धर्म का भान कराना । इस प्रकार कर्त्तव्यपरायणता का परिचय देकर अपनी चारित्रशीलता का प्रभाव डालना । यही वशीकरण मन्त्र को साधने के उपाय हैं । इस उपाय से मन्त्र की अच्छी तरह साधना की जाये तो अपने पति को तथा अन्य कुटुम्बी जनो को अपने अधीन किया जा सकता है । अगर तुम इस विधि से मन्त्र की साधना करोगी तो श्रीकृष्ण अवश्य तुम्हारे वश में हो जाएँगे ।

तुम लोग भी इस वशीकरण मन्त्र को साधने का प्रयत्न करो । साहस और शक्ति के साथ मन्त्र को साधने का प्रयत्न करोगे तो अवश्य उसे साध सकोगे । अगर तुमने मन्त्र-साधन का साहस ही न किया और दूसरे के भरोसे बैठे रहे तो यह तुम्हारी पराधीनता कहलाएगी । शास्त्र तुम्हें जो उपदेश देता है सो तुम्हारी परतन्त्रता दूर करने के लिए ही है । शास्त्र तो तुम्हें आध्यात्मिक और व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से स्वतन्त्र करना चाहता है । इसी कारण शास्त्र आध्यात्मिक उपदेश के साथ ७२ कलाओं का शिक्षण संपादन करने का भी उपदेश देता है । मगर तुम तो परतन्त्रता में और दूसरों के हाथों काम कराने में ही सुख मान बैठे हो । परतन्त्र रहने में और दूसरों के हाथों से काम

कराने में कम पाप होता है और सुख मिलता है, यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। अपने हाथ से काम करने में कम पाप लगता है या दूसरे से कराने में, इस बात का अगर बुद्धिपूर्वक विचार करोगे तो तुम्हें विश्वास हो जायेगा कि स्वतन्त्रता में सुख है और परतन्त्रता में दुःख है। पाप परतन्त्रदशा में अधिक होता है और स्वतन्त्रदशा में कम होता है।

द्रौपदी ने सत्यभामा को वशीकरण मन्त्र और उस मन्त्र को साधने के उपाय बतलाते हुए कहा—दूसरों के वश में रहना सच्चा वशीकरण है और पति-सेवा में सुख मानना, पति की आज्ञा मानना तथा कर्त्तव्यशील और धर्मपरायण होकर रहना मन्त्र साधने के उपाय हैं। अगर तुम इस मन्त्र की साधना करोगे तो तुम भी सब को अपने वश में कर सकोगे। यह मन्त्र तो विश्व को वश में करने वाला वशीकरण मन्त्र है।

कहने का आशय यह है कि जो पुरुष स्वावलम्बी बनता है और अपना काम, आप करके दूसरों का भी काम कर लेता है, वही प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। दूसरों को गुलाम रखने वाला स्वयं गुलाम बनता है।

कहते हैं, भारत का पहला लॉर्ड क्लाइव जब ढाका के नवाब से मिलने गया तो नवाब ने अपने गुलामों को सुन्दर वस्त्र पहना कर एक कतार में खड़ा किया था और गुलामों को नीचे झुकाकर सलामी दी थी। नवाब जब क्लाइव से मिला तो उसने क्लाइव से पूछा—तुम अपने बादशाह को बहुत बड़ा कहते हो तो उसके पास कितने गुलाम हैं? लॉर्ड ने उत्तर दिया—‘हमारे बादशाह के पास एक भी

गुलाम नहीं है ।' नवाब ने कहा — 'तो फिर बादशाह बड़े क्यों कहलाते हैं?' लॉर्ड ने कहा—हमारे बादशाह के पास यो तो गुलाम बहुत हैं, पर वे शरीर से नहीं, मन से हैं । जो शरीर से ही गुलाम होता है और मन से गुलाम नहीं होता अर्थात् जो मन से स्वतन्त्र है वह गुलाम नहीं है । वास्तव में गुलाम वही है जो मन से गुलाम है ।

आशय यह है कि द्रौपदी के कथनानुसार जो स्वावलम्बी बनता है वही सभोग का त्याग कर सकता है । सभोग का त्याग करने के लिए अपने बल-अबल का विचार पहले करना आवश्यक है । शास्त्र कहता है कि अगर आज तुममें सभोग का त्याग करने की शक्ति नहीं है तो सभोग का त्याग करने वाले जिनकल्पी महात्माओं का आदर्श दृष्टि के सामने रखो और उनके समान बनने का प्रयत्न करो । इसी में कल्याण है ।

यह तो बतलाया जा चुका है कि सभोग का त्याग करने से निरवलम्ब अवस्था प्राप्त होती है । सभोग पारस्परिक लाभ के लिए किया जाता है फिर भी उसमें परतन्त्रता तो है ही । अतएव साहस और शक्ति हो तो इस परतन्त्रता को दूर करने के लिए सभोग का त्याग करना आवश्यक है । जहाँ लाभ होता है वहाँ परतन्त्रता भी होती है । अतः स्वाधीन बनने के लिए उस लाभ से वंचित रहना और सभोग का भी त्याग करना आवश्यक है ।

सभोग में रहने से दूसरों का आलम्बन लेना पड़ता है । अगर सभोग का त्याग कर दिया जाये तो निरालम्ब बन सकते हैं । सभोग का त्याग करना शक्ति और साहस

पर निर्भर करता है । शक्ति और साहस न हों तो सभोग का त्याग करना अनिवार्य नहीं है । आज आपसे रेल में बैठने का त्याग करने के लिए कहा जाये तो क्या आप त्याग कर सकेंगे ? आप यही कहेंगे कि रेल में बैठने का त्याग करने से हमारा काम नहीं चल सकता । मगर तुम्हारे पूर्वजों का काम रेल के बिना चल सकता था या नहीं ? अगर उनका काम चल सकता था तो तुम्हारा काम क्यों नहीं चल सकता ? इससे यही मालूम होता है कि साधनों की अधिकता से शक्ति का नाश होता है । अतएव साधनों का यथाशक्ति त्याग करना चाहिए ।

सभोग के त्याग से आलम्बन का त्याग होता है । आलम्बन के त्याग से आयत अर्थ की सिद्धि होती है अर्थात् सभोग और आलम्बन का त्याग करने से समय और मोक्ष के अतिरिक्त दूसरा कोई आधार नहीं रहता । सभोग के त्याग से प्रत्यक्ष लाभ यह होता कि अपने ही लाभ से सन्तुष्ट होती है और दूसरे के लाभ की आशा नहीं रहती । फल-स्वरूप हृदय में ऐसा सकल्प-विकल्प पैदा नहीं होता कि कोई मुझे अमुक वस्तु दे, अमुक ने अमुक वस्तु क्यों न दी अथवा मुझे दूसरे से अमुक वस्तु मिल जाये । इस दशा में 'हमारा अमुक काम कर दो' इस प्रकार की प्रार्थना भी नहीं करनी पड़ती । जिसे किसी प्रकार की अभिलाषा होती है उसी को दूसरे से प्रार्थना करनी पड़ती है । जिसे दूसरे से सहायता लेने की इच्छा ही नहीं है और जो दूसरे के लाभ की आशा ही नहीं रखता, वह दूसरे के सामने प्रार्थी क्यों बनने लगा ? इसी प्रकार जो साधु सभोग का त्याग करके निरवलम्ब, निर्विकल्पी, अप्रार्थी, अस्पृही और अनभि-

लाषी बनता है, वह साधु श्रीस्थानागसूत्र में कही हुई उत्तम प्रकार की दूसरी सुखशय्या पाकर विचरता है ।

जिस पर शयन किया जाता है उसे शय्या कहते हैं । शय्या दो प्रकार की है—सुखशय्या और दुःखशय्या । दूसरे के आधार पर रहने वाला दुःखशय्या पर सोने वाला है और जो अपने ही आधार पर रहता है, दूसरो का आधार नहीं लेता, वह सुखशय्या पर सोने वाला है । दूसरो के आधार पर रहना पराधीनता है और अपने आधार पर रहना स्वाधीनता है । पराधीनता के समान और कोई दुःख नहीं तथा स्वाधीनता के समान दूसरा सुख नहीं । पराधीनता के साथ खाने को मिष्टन्न मिलना भी अच्छा नहीं । उसकी अपेक्षा स्वतन्त्रतापूर्वक मिला हुआ रूखा, सूखा रोट ही अच्छा है । स्वतन्त्रता में जो आनन्द है वह परतन्त्रता में स्वप्न में भी सभव नहीं ।

आज लोग स्वतन्त्रता को भूल गये हैं और लकीर के फकीर की भाँति बहुत से लोग जो कार्य करते हैं, उसी को करने बैठ जाते हैं । परन्तु यह उनकी भूल है । अधिक लोग जो काम करते हैं, वह करना ही चाहिए, यह ठीक कैसे कहा जा सकता है ? क्या अधिक सख्या में लोग अप्रामाणिक और विश्वासघाती नहीं हैं ? क्या इनका अनुकरण करना उचित कहा जा सकता है ? अतएव इस धारणा का त्याग कर दो कि बहुजनसमाज जो कार्य करता है वही कर्तव्य है । बहुजनसमाज के कार्यों की नकल न करके जिससे आत्मा का कल्याण हो, वही करना चाहिए ।

शास्त्रानुसार स्वाधीनता में ही सुख है । यह बात

दूसरी है कि आज लोग परवश हो जाने के कारण तत्काल पराधीनता का त्याग नहीं कर सकते, फिर भी स्वतन्त्रता को भूल तो नहीं जाना चाहिए। स्वाधीनता का आदर्श तो अपनी नजर के आगे रखना ही चाहिए। जो लोग पराधीनता को ही सर्वस्व मान बैठते हैं और स्वाधीनता को सर्वथा भूल जाते हैं, उनका परतन्त्रता के दुःख से मुक्त होना कठिन है। अगर स्वाधीनता का आदर्श दृष्टि के समक्ष रखा जाये और आदर्श पर पहुँचने का यथाशक्य प्रयत्न किया जाये तो एक दिन अवश्य ऐसा आएगा कि पराधीनता के दुःख का अन्त हो जायेगा। स्वाधीनता के सिद्धान्त को सर्वथा भुला देने से पराधीनता के दुःख से छुटकारा मिलना कठिन है।

कल्पना करो, एक कैदी को कैदखाने में बन्द कर दिया गया है और एक पागल को पागलखाने में डाल दिया है। अब यह दोनों अपने बन्धन से कब छूट सकते हैं? कैदी की तो कैदखाने से छूटने की अवधि निश्चित है किन्तु पागल का दिमाग जब शांत और स्थिर होगा तभी वह पागलखाने से छूट सकेगा। दिमाग शान्त और स्थिर हुए बिना वह पागलखाने से छुटकारा नहीं पा सकता। ज्ञानी और अज्ञानी में भी इसी प्रकार का अन्तर है। अपराध तो ज्ञानी से भी हो जाता है परन्तु ज्ञानी के अपराध के दण्ड की अवधि होती है और अज्ञानी के दण्ड की अवधि नहीं होती। अतएव जब अज्ञानी का अज्ञान मिटता है तभी वह दुःख से छूटता है। इस प्रकार अज्ञानता एक प्रकार का पागलपन है। अतएव स्वतन्त्रता क्या है, इसका ज्ञान प्राप्त करो।

— एक लेख में मैंने देखा था— किसी जगह पागलखाने



में आग लग गई । कुछ दयालु लोग पागलों को बाहर निकालने के लिए दौड़े आये । मगर पागल तो आग को देखकर उलटे आनन्द मनाने लगे । कहने लगे-यहाँ और दिने तो एक-दो ही दीपक जलाये जाते थे पर आज हजारों दीपक जलाये जा रहे हैं । ऐसे प्रकाशमय स्थान से हमें बाहर क्यों निकाला जा रहा है ?

अगर तुम वहाँ होते तो यही कहते कि यह पागल कितने मूर्ख हैं कि विनाश को भी प्रकाश मान रहे हैं ! आह ! लोगो की दशा कितनी दयनीय है !

पागल भ्रम में कैसे होने के कारण ही विनाश में आनन्द मान रहे हैं । इसी प्रकार आज की जनता भी ऊपरी भपके के भ्रम में पड़ी है और इसी कारण लोग ऊपरी भपका बढ़ाने में ही आनन्द मान रहे हैं । ऐसे लोगो से ज्ञानीजन कहते हैं - इस ऊपरी भपके के भ्रम से बाहर निकलो अन्यथा इस भपके के भड़के में ही भस्मीभूत हो जाओगे । ज्ञानीजन तो इस प्रकार चेतावनी देकर दिखावटी फैशन के चक्कर में से लोगो को निकालने का प्रयत्न करते हैं, मगर शौकीन लोग ज्ञानियो की चेतावनी को अवगणना करते हैं । इस अवगणना के फलस्वरूप उन्हें दुःख ही सहन करना पड़ता है; क्योंकि फैशन बढ़ने से पराधीनता बढ़ती है और पराधीनता में दुःख है ।

स्वामी विवेकानन्द यूरोप-अमेरिका आदि देशों में धर्मप्रचार करके जब भारत लौटे, तो उन्होंने अपने अनुभव बतलाने हुये एक भाषण में कहा था—इस समय सारा यूरोप ज्वालामुखी के गिखर पर बैठा है । यह नहीं कहा जा

सकता कि यह ज्वालामुखी कब फटेगा और कब यूरोप का विनाश होगा ! इसी प्रकार आज का फैशन भी ज्वालामुखी के गिखर तक पहुँच चुका है । इस फैशन की बढ़तीत कब विनाश का आगमन होगा, यह नहीं कहा जा सकता । आज कितनेक लोग पैरिस आदि पाश्चात्य नगरों में जाकर और वहाँ की ऊपरी तडक-भडक देखकर कहने लगते हैं--सारा मजा तो वस, यही है ! हम लोग तो अभी जगली दशा में हैं । ऐसा मानने वाले लोगों को यह भान नहीं है कि इस तडकभडक के पीछे कैसी और कितनी परतन्त्रता छिपी हुई है ! जिन्होंने तडकभडक का त्याग कर दिया है उन्हें तुम मूर्ख मानते हो । मगर यदि तुम इस बात का गम्भीर विचार करोगे कि इस तडकभडक से स्वतन्त्रता मिलती है या परतन्त्रता मिलती है, तो अपने पूर्वजों को मूर्ख नहीं कहोगे । वास्तव में तुम ऊपरी तडकभडक का त्याग करने वाले अपने पूर्वजों को मूर्ख कहकर अपनी मूर्खता का ही परिचय देते हो ।

आज स्वतन्त्रता की भावना क्षीण हो गई है और इसी कारण त्यागशील पूर्वजों को मूर्ख समझा जाता है । उदाहरणार्थ--हरिश्चन्द्र के विषय में कहा जाता है कि उसने अपना राज्य एक अयोग्य व्यक्ति को सौंप दिया, यह मूर्खता नहीं तो क्या है ? मगर जिसने इतना महान् और अपूर्व त्याग किया उसे मूर्ख कहना क्या उचित है ? हरिश्चन्द्र ने कदाचित् वचनबद्ध होने के कारण अपने राज्य का त्याग किया था, परन्तु शास्त्र में तो यहाँ तक कहा है कि--

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्डिओ ।

सन्ती सन्तिकरे लोए पत्तो गइमणुत्तर ॥

इक्खागरायवसभो कुन्थू नाम नरेसरो ।  
विक्खायकित्ती भगवं पत्तो गइमणुत्तरं ॥

— उत्तराध्ययन, अ० १८, गा० ३६-४० ।

अर्थात्—जिनका सम्पूर्ण भरतखण्ड पर अधिकार था, उन भगवान् शान्तिनाथ और भगवान् कुन्थुनाथ ने अपनी समस्त ऋद्धि का त्याग किया था ।

उन्होंने यह त्याग क्यों किया था ? उनके त्याग का यही कारण था कि उन्हें उस ऋद्धि में परतन्त्रता प्रतीत हुई थी । उस ऋद्धि में उन्हें स्वतन्त्रता नहीं मालूम हुई । उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए ही राज्य की ऋद्धि का त्याग किया था ।

भगवान् शान्तिनाथ चक्रवर्ती राजा थे, फिर भी उन्होंने शांति प्राप्त करने के लिए राजपाट त्याग दिया । त्याग से ही शांति मिलती है । भोग से कभी किसी को न शान्ति मिली है, न मिलती है और न मिलेगी । अतएव भगवान् शान्तिनाथ ने शांति प्राप्त करने का जो मार्ग बतलाया है, उसे जीवन में स्थान देने से ही वास्तविक कल्याण होगा ।

यह आशंका उठाई जा सकती है कि हम लोग अगर शांति धारण करके बैठ रहे तो बदमाश लोग हमें शांत कैसे रहने देंगे ? इसका उत्तर यह है कि अगर तुम्हारे भीतर वास्तविक शांति होगी तो कोई दूसरा तुम में अशांति उ-पन्न कर ही नहीं सकता । अशांति तो अपने भीतर मौजूद अशांति के कारण ही होती है । अतएव शांति प्राप्त करने के लिए त्याग-भावना को अपनाना चाहिए । तुम त्याग तो करते हो मगर त्याग की पद्धति ठीक न होने के कारण

तुम्हें शांति प्राप्त नहीं होती । उदाहरणार्थ - एक किसान गीली जमीन में बीज बोता है और दूसरा सूखी जमीन में । गीली जमीन में बोया हुआ बीज तो अकुरित हो जाता है, पर सूखी जमीन में बोया बीज जल के अभाव में कैसे अकुरित हो सकता है ? इसी प्रकार तुम लोग जो त्याग करते हो वह सूखी जमीन में बोये बीज को तरह निष्फल जाता है । त्याग निष्फल हो जाने से तुम्हें शांति प्राप्त नहीं हो सकती । अगर कोई पदार्थ अहंकारपूर्वक त्यागा जाता है तो वह त्याग शांति देने वाला और परमात्मा के शरण में ले जाने वाला सिद्ध नहीं होता । शांति देने वाला सच्चा त्याग तो वही है जो बिना किसी अभिमान के, परमात्मा को समर्पित कर दिया जाये ! परमात्मा को समर्पित करने की दृष्टि से किया हुआ त्याग हमेशा फलदायक होता है, क्योंकि इस प्रकार त्याग करने वाले को किसी दिन पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं आता ।

मान लो, तुमने किसी मनुष्य को हजार रुपया उधार दिये । उधार लेने वाले ने दिवाला निकाल दिया । ऐसी स्थिति में तुम्हें हजार रुपये के लिए पश्चात्ताप होना स्वाभाविक है । इसके बजाय वही हजार रुपया अगर दान दिया होता तो क्यों पश्चात्ताप होता ? इस प्रकार परमात्मा को समर्पण करने की दृष्टि से जो त्याग किया जाता है, उस त्याग के लिए पश्चात्ताप करने का कोई कारण नहीं रहता ।

प्रत्येक वस्तु की तीन अवस्थाएँ होती हैं - दान, भोग और नाश । तुम लोग वस्तु का भोग करते हो और उसका नाश भी होता देखते हो, परन्तु दान में बहुत कम उपयोग

करते हो । आजकल वस्तुओं का भोग और नाश तो होता दिखाई देता है परन्तु दान में बहुत कम उपयोग होता है । इस जमाने में बहुत बेकारी है, ऐसा कहा जाता है, परन्तु वस्तुओं का भोग और नाश करने में क्या कुछ कमी रखी जाती है ? कमी तो वस्तुओं के दान में ही आई है ।

यहां एक बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है । वह यह कि वस्तुओं का भोग और नाश करने से तो अन्त में पश्चात्ताप ही पल्ले पड़ेगा परन्तु दान में वस्तुओं का उपयोग करने से पश्चात्ताप का अवसर नहीं आएगा । अतः एव प्राप्त सम्पत्ति का भोग और नाश करके ही दुरुपयोग मत करो, उस सम्पत्ति का दान देकर सदुपयोग करना सीखो ।

कुछ लोग तो दान करने में भी पाप मानने हैं । उन लोगों की मान्यता यह है कि हम जिनको दान देते हैं, वह दान लेने वाले अगर कोई पाप कर्म करें तो उनके सब कर्मों का पाप हमें लगता है । इत्यादि । मारवाड में ऐसी मान्यता वाले लोग हैं । इन लोगों के बीच भ्रमण करके मैंने उनकी इस दुर्भावना को दूर करने का प्रयत्न भी किया था और उन्हें समझाया था कि उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है । दान में विवेक रखने की आवश्यकता तो है, मगर दान में एकान्त पाप मानना गलत है । लोगों को दान में पाप मानने की बात बहुत जल्दी पसन्द आ जाती है, क्योंकि ऐसा मानने से गांठ का कुछ जाता नहीं और धर्म भी हो जाता है । ऐसी बात जल्दी पसन्द आना स्वाभाविक है । दान में विवेक रखना ठीक है मगर एकान्त पाप मानना ठीक नहीं है । बीज नष्ट हो जाने के डर से बोना ही छोड़ बैठना कोई

बुद्धिमत्ता नहीं है । एक किसान खेती करता है और बीज का आरोपण करता है, जब कि दूसरा किसान खेती करना है किन्तु बीज नष्ट हो जाने के भय से बीज ही नहीं बोता । इन दोनों में से तुम किसे ठीक कहोगे ? इसी प्रकार एक आदमी दान में विवेक रखता है मगर दान देता है और दूसरा, दान लेने वाला जो पापकर्म करेगा वह पापकर्म मुझे लगेगा, इस भय से दान ही नहीं देता । इन दोनों मनुष्यों में से वही मनुष्य अच्छा कहलाएगा जो दान देता है । दान ही न देना तो बीज ही न बोने के समान है । अतएव विवेकपूर्वक दान तो अवश्य देना चाहिए । पाप के भय से दान ही न देना अनुचित है ।

मुता है, अमेरिका में एक बार दो मित्र जा रहे थे । रास्ते में एक लगडा मनुष्य बैठा दिखाई दिया । दोनों मित्रों में से एक को उस लगडे पर दया आई और उसने अपने जेब से कुछ रुपये निकाल कर उसे दे दिये । यह देखकर दूसरे ने कहा - तुमने इस अपग मनुष्य को रुपये तो दिये मगर इससे उसका भिखारीपन दूर नहीं हुआ । रहा तो भिखारी का भिखारी ही । तुम्हारा यह दान करुणादान तो अवश्य है पर उसे ऐसा दान देना चाहिए कि उसका भिखारीपन ही मिट जाये और वास्तव में ऐसा दान करना ही श्रेष्ठ दान है । इस प्रकार कहकर वह दूसरा मित्र उस अपग को अपने घर ले गया । वहाँ उसने उसे हुनर-उद्योग सिखाया और लकड़ी तथा रबर के कृत्रिम पैर बनाकर उसके पैर दुरुस्त कर दिये । वह अपग हुनर-उद्योग के द्वारा अपना और दूसरों का भी पोषण करने में समर्थ बन सका । दान तो दोनों मित्रों ने दिया, परन्तु किस मित्र का दान सच्चा

और ऊँचा दान है, इस बात पर विचार करो । जिस मित्र ने रुपये का दान दिया उसका दान भी करुणादान था परन्तु दूसरे ने भिखारीपन दूर करने का जो दान दिया वह उस की अपेक्षा अधिक प्रशस्त है । इस प्रकार दान में विवेक रखना अच्छा है परन्तु दान देने में पाप ही मानकर उचित नहीं कहा जा सकता ।

न्यायमूर्ति रानडे के विषय में सुना है कि जब वे हार्ड-कोर्ट के जज थे तब एक बार दुष्काल के समय षोडागाड़ी में बैठकर हवाखोरी के लिए जा रहे थे । रास्ते में उन्होंने देखा कि एक मनुष्य गोदर में से अन्न के दाने बीन रहा है । यह दृश्य देखकर उनका दिल दया से द्रवित हो उठा । वह मन ही मन कहने लगा बेचारे लोगों की कैसी दीन दशा है और मैं बगधी में सवार होकर घूम रहा हूँ । दया भाव से प्रेरित होकर वे उस मनुष्य को अपने घर ले गये और उसको आजीविका की उचित व्यवस्था कर दी । इस घटना के बाद उन्होंने अपनी नौकरी त्याग दी और वे गरीबों की सेवा करने में ही प्रवृत्त हो गए ।

कितनेक लोगों के कथनानुसार इस प्रकार के अशक्तों को सशक्त बनाना शस्त्र को तोक्षण बनाने के समान है । परन्तु ऐसा मानना एक प्रकार की भूल है । हम लोग शिष्य बनाते हैं । इस समय कोई मोक्ष में तो जाता ही नहीं है, अतः वे देवलोक में जाएँगे और वहाँ सुख का उपभोग करेंगे । क्या यह पाप हमें लगना चाहिए ? अगर नहीं, तो फिर यही न्याय सब जगह लागू क्यों नहीं किया जाता ? लोग सशक्त मनुष्य द्वारा होने वाला पाप तो देखते हैं मगर करुणा करने वाले के उच्च भावों को नहीं देखते । करुणा

करने वाले की भावना पाप कराने की नहीं है, दुखी का दुःख दूर करने की है । ऐसी स्थिति में करुणा करने वाले को किस प्रकार पाप लग सकता है ? अतएव करुणा करने में भावना रखो । अनुकम्पा करने में पाप है यह मान्यता ही भूलभरी है । अनुकम्पा करने वाला और दान देने वाला किसी दिन सुबाहुकुमार जैसी ऋद्धि प्राप्त कर सकता है, अन्यथा पुण्य सचय करने में तो सदेह ही नहीं है । इसलिए अनुकम्पा करने का प्रयत्न करो । अनुकम्पा करने में कल्याण ही है । अपने घर से ही अनुकम्पा आरम्भ करो । ज्यो ज्यो अनुकम्पा बढ़ती जायेगी त्यो-त्यो विश्वमैत्री बढ़ती जाएगी । अतएव सब जीवों के प्रति अनुकम्पा और दान की वृत्ति रखने का ध्यान रखो । इसी में कल्याण है ।

कहने का आशय यह है कि जो आनन्द स्वतन्त्रता में है, वह परतन्त्रता में नहीं । अतएव स्वतन्त्रता को मत भूलो । आज के लोग परावलम्बी बनते जा रहे हैं और उनकी आवश्यकताएँ इतनी अधिक बढ़ रही हैं कि उन्हें स्वतन्त्रता के विषय में विचार करने की फुर्सत ही नहीं मिलती । ऐसी पराधीन दशा में दूसरों की अनुकम्पा किस प्रकार हो सकती है ? दूसरे जीवों के प्रति अनुकम्पा करने के लिए अपनी आवश्यकताएँ कम करना आवश्यक है । अपनी आवश्यकता कम करना अपने सासारिक बन्धनों को कम करने के समान है । अतएव स्वतन्त्रता की भावना को हृदय में स्थान देकर सासारिक बन्धनों को तोड़ने का प्रयत्न करो । ऐसा करने में ही स्व-पर कल्याण है ।





# चौतीसवां बोल

## उपधिप्रत्याख्यान

तेतीसवें बोल में संभोग के प्रत्याख्यान के विषय में विचार किया गया । संभोग का त्याग करने से अलम्बन का त्याग भी करना पड़ता है । अलम्बन का त्याग करना साधारण आदमी के लिए सरल काम नहीं है । शक्तिशाली महात्मा ही अलम्बन का त्याग कर सकते हैं । जिनमें संभोग का त्याग करने की शक्ति होती है वे संभोग का त्याग कर देते हैं और साथ ही साथ उपधि (उपकरण) का भी त्याग कर देते हैं । इस कारण अब गौतम स्वामी उपधि के त्याग के विषय में भगवान् से प्रश्न करते हैं—

### मूलपाठ

प्रश्न—उवहिपच्चक्खाणेणं भते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—उवहिपच्चक्खाणेणं अपलिमंथं जणयइ, निरुव-  
हिए णं जीवे निक्कखे उवहिमन्तरेण य न सकिलिस्सइ ॥३४॥

### शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन् ! उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर— हे गौतम ! उपधि का त्याग करने से जीव उपकरण धरने-उठाने की चिन्ता से मुक्त हो जाता है और उपधिरहित जीव निस्पृही ( स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन में निश्चिन्त रहने वाला ) होकर उपधि के अभाव में शारीरिक या मानसिक क्लेश अनुभव नहीं करता ।

### व्याख्यान

उपधि के प्रत्याख्यान से जीव को होने वाले लाभों पर विचार करने से पहले उपधि क्या है, इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है । उपधि का अर्थ है— उपकरण या साधन । यह उपकरण या साधन दो प्रकार के हैं । एक साधन तो सद्गति में ले जाने वाला होता है और दूसरा अधोगति में ले जाने वाला । उपधि की व्याख्या करते हुए कहा गया है—‘उपधीयते इति उपधिः ।’ अर्थात् जिससे उपधि हो वह उपधि कहलाती है । इस प्रकार कोई-कोई उपधि दुर्गति में ले जाने वाली और कोई सद्गति में ले जाने वाली होती है । दुर्गति में ले जाने वाली उपधि में घन-धान्य आदि परिग्रह का समावेश होता है और सद्गति में पहुँचाने वाली उपधि में उन चीजों का समावेश होता है, जो सयम में स्थिर करने वाली हैं । उपधि तो दोनों ही हैं परन्तु सर्वप्रथम अशुभ का ही त्याग किया जाता है, शुभ का नहीं । जिन्होंने सयम धारण किया है वह दुर्गति में ले जाने वाली घनधान्य आदि उपधि का तो पहले ही त्याग कर डालते हैं, उन्हें सिर्फ सयम में स्थिर रखने वाली उपधि का त्याग करना शेष रहता है । शास्त्रकार कहते हैं—अगर किसी में शक्ति हो तो सयम में स्थित करने वाली उपधि

का भी त्याग कर देना चाहिए ।

कुछ लोग कहते हैं—परिग्रह हमारे पास भी है और साधुओं के पास भी है । जैसे हमें अन्न-वस्त्र चाहिए, उसी प्रकार महाराज को भी अन्न-वस्त्र चाहिए । इस प्रकार कहने वाले लोग अपनी और साधु की एक ही गति है, ऐसा कहते जान पड़ने हैं । दूसरी ओर कुछ लोग कहते हैं—साधु को उपकरण की क्या आवश्यकता है ? साधु को तो दिगम्बर रहना चाहिए और जो साधु दिगम्बर रहता हो, वही साधु है । इस प्रकार दो अलग-अलग मन प्रचलित हैं । इन दो मतों के कारण ही परस्पर वाद-विवाद और कलह उत्पन्न हुआ करता है । पर शास्त्रकार कहते हैं कि इस तरह के वाद-विवाद में न पड़कर उपधि-उपकरण का विवेकपूर्वक त्याग करो । जो भी त्याग करो, विवेकपूर्वक ही करो । ऐसा करने में ही त्याग की शोभा है । मान लो, किसी मनुष्य ने धोती भी पहनी है और पगड़ी भी पहनी है । अब अगर उसमें त्यागभावना आ जाये तो वह सर्वप्रथम किस वस्तु का त्याग करेगा ? पहले धोती त्यागेगा या पगड़ी त्यागेगा ? उसके लिए पहले पगड़ी का त्याग करना ही उचित है । लेकिन यदि वह आग्रह करे कि मैं तो पहले धोती त्यागूँगा और पगड़ी पहने रखूँगा, तो क्या यह त्याग का आग्रह, विवेकपूर्वक कहलाएगा ? अतएव जो कुछ भी त्याग किया जाये वह सब विवेकपूर्वक ही होना चाहिए । जिस वस्तु का त्याग करने की शक्ति नहीं है, उसका भी त्याग करके नवीन कठिनाइयाँ उपस्थित करना उचित नहीं हैं ।

पाच समिति और तीन गुप्ति जैनशास्त्रों का सार है ।

समिति अर्थात् प्रवृत्ति और गुप्ति अर्थात् निवृत्ति । उपदेश तो गुप्ति अर्थात् मन, वचन और काय की निवृत्ति के लिए ही है, परन्तु निवृत्ति के साथ प्रवृत्ति न हो तो धर्म मे गति ही कैसे होगी ? इस कारण भगवान् ने पाच समितियों के द्वारा प्रवृत्ति बतलाई है और मन, वचन, काय द्वारा अशुभ प्रवृत्ति न करने के लिए कहा गया है । प्रत्येक प्रवृत्ति विवेकपूर्वक करना समिति है । चलते समय ईर्यासमिति का ध्यान रखना आवश्यक है । ईर्यासमिति का ध्यान न रखा जाये तो गुप्ति का भग होता है । अतएव चलने मे, बोलने मे, भिक्षा लेने मे, अर्थात् प्रत्येक प्रवृत्ति करते समय साधु को पाच समिति और तीन गुप्ति का ध्यान रखना आवश्यक है । समिति और गुप्ति प्रवचन माता कहलाती है । वीरपुत्र साधु को अपने प्राणों का भी उत्सर्ग करके प्रवचनमाता की रक्षा करनी चाहिए । १

शरीर टिकाने के लिए जब भिक्षु को भिक्षा लेनी पडती है, जब भिक्षा लेने के लिए पात्रों की भी आवश्यकता रहती है । अगर साधु पात्र न रखे और गृहस्थों के पात्र में भोजन करे या गृहस्थों के पात्र का उपयोग किया करे तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की संभावना है । यह बात दृष्टि मे रखकर ही साधुओं को काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की झूट दी गई है । जब पात्र लेकर भिक्षा के लिए जाना पडता है तो पात्र रखने के लिए झोली भी चाहिए ही और लज्जा की रक्षा के लिए वस्त्र भी चाहिए ! भगवान् ने कहा है—अगर पात्र रखोगे तो तुम अपने समय की रक्षा कर सकोगे और रोगी या वृद्ध साधुओं की सेवा भी कर सकोगे । अगर तुम स्वयं गृहस्थों के घर खाते होगे

अथवा गृहस्थों के पात्र में जोमते होंगे तो वृद्ध तथा रोगी आदि सत्तों के लिए भिक्षा किस प्रकार और कहा से लाओगे? कदाचित् यह कहो कि हम गृहस्थों के घर जोमेगे और वृद्ध तथा रोगी साधुओं की सेवा गृहस्थ करेंगे, तो ऐसा करने में अत्यन्त होगी और समय में बाधा आएगी । अतएव समय पालन के लिये पात्र भी उपकारी हैं ।

जो भोजन किया जाता है वह शरीर में रसभाग और खलभाग में परिणत होता है । खलभाग का-जो मल-मूत्र रूप होता है-त्याग करना ही पड़ता है । मलमूत्र का त्याग दश बोलों का ध्यान रखकर करना चाहिए ।

साधु-क्रिया से अनभिज्ञ कुछ लोगों का कहना है कि साधु मल को बिखेरते हैं, परन्तु यह कथन भ्रामक और मिथ्या है । ऐसा करने से तो साधु को प्रायश्चित्त लगता है । मलमूत्र का त्याग करने में साधुओं को विवेक तो रखना ही पड़ता है, परन्तु मलमूत्र का विसर्जन करते समय साधु ऐसी कोई क्रिया नहीं करते कि उन्हें मलमूत्र का स्पर्श करना पड़ता है ।

यहाँ कोई यह पूछ सकता है कि यह तो साधुओं के आचार-विचार की बात हुई, परन्तु शास्त्र में गृहस्थों के लिए भी कोई धर्म बताया है या नहीं, और उनके लिए किसी प्रकार का विधि-विधान किया गया है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शास्त्र में गृहस्थों का धर्म न बतलाया जाये यह कैसे संभव है ? क्योंकि साधुओं का धर्म गृहस्थों के धर्म पर ही आश्रित है । इसीलिए उववाई सूत्र में कहा है—

दुविहे धम्मे पणत्ते, तजहा-आगारधम्मे अणगार-धम्मे य ।

अर्थात् धर्म दो प्रकार के हैं— गृहस्थधर्म और साधुधर्म ।

साधुधर्म का आधार गृहस्थ का धर्म ही है । श्री जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र में कहा है कि जब धर्म का नाश होगा तो सर्वप्रथम साधुधर्म का नाश होगा और फिर गृहस्थधर्म का नाश होगा । साधुधर्म जीवित रहे और गृहस्थधर्म नष्ट हो जाये, ऐसा कभी हो ही नहीं सकता, क्योंकि गृहस्थधर्म, साधुधर्म का आधार है और यदि गृहस्थ लोग अपने धर्म का सम्यक् प्रकार पालन न करें तो ऐसी दशा में साधुधर्म का भी सम्यक् प्रकार से पालन नहीं हो सकता । अतएव गृहस्थों को अपने धर्म का यथोचित पालन करना चाहिए । धर्म किसी व्यक्ति को, फिर वह साधु हो या गृहस्थ हो, किसी प्रकार के बन्धन में बद्ध नहीं करता । धर्म तो अविवेक को दूर करता है । धर्म का कथन यह है कि जो कुछ करो, विवेकपूर्वक ही करो । गृहस्थों को विवेक समझाने के लिए ही शास्त्र में पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत बतलाये गये हैं । इन बारह व्रतों को ही आगार-धर्म कहते हैं । पहले अहिंसाव्रत में श्रावक को हिंसा का त्याग करना पड़ता है । गृहस्थ-श्रावक हिंसा का सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, अतएव उसे स्थूल हिंसा का त्याग करने का विधान किया गया है । स्थूल हिंसा किसे कहना चाहिए और सूक्ष्म हिंसा क्या है, इस विषय में शास्त्र में अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक विचार किया गया है । शास्त्र-

कारों ने जगत् के जीवों की सुविधा के लिए स्थूल हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा है— जो जीव चलते-फिरते दिखाई देते हैं, उनका घात करना स्थूल हिंसा है । गृहस्थ-श्रावक को ऐसे जीवों की हिंसा नहीं करना चाहिए । जीव तो पृथ्वी, पानी आदि में भी हैं, परन्तु वे प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते और गृहस्थ-श्रावक उन जीवों की हिंसा से बच नहीं सकता । अतएव जो जीव प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उनकी हिंसा श्रावक को नहीं करना चाहिए ।

इस पर कोई गृहस्थ कह सकता है कि अगर हम ऐसी हिंसा से बचते ही रहे और अहिंसक बनकर बैठे रहें तो हमारा संसार-व्यवहार ही न चले । इसका समाधान यह है कि यह खयाल ही गलत है । एक बार एक डाक्टर साहब ने भी मुझसे ऐसा ही कहा था । उनका कहना था— ‘अगर हम अहिंसक ही बन जाएँ तो ऐसी दशा में अनेक मनुष्य मर जाएँ ।’ मनुष्यों की रक्षा के लिए हमें हिंसा करनी ही पड़ती है । रोग के कीटाणु, जो रोगी के शरीर में होते हैं, उनका हमें विनाश करना पड़ता है । अगर कीटाणु नष्ट न किये जाएँ तो रोगी जीवित नहीं रह सकता और कीटाणुओं का नाश करने से हिंसा होती है । ऐसी दशा में हमें क्या करना चाहिए और किस प्रकार अहिंसा का पालन करना चाहिए ? डाक्टर का कर्तव्य निभाने के लिए हमें दवा से, इन्जेक्शन से या आपरेशन से कीटाणुओं का नाश करना ही पड़ता है ।’

डाक्टर की तरह और लोग भी कहने लगते हैं— वास्तव में कीड़ों को बचाना चाहिए या मनुष्यों को बचाना चाहिए ?’

मैंने उन डाक्टर साहब से कहा—‘कीड़े दो प्रकार के होते हैं—आरोग्यरक्षक और आरोग्यभक्षक । आरोग्यनाशक कीड़ो के कारण ही रोग उत्पन्न होता है । तुम लोग यह मानते हो कि हम दवा द्वारा आरोग्यनाशक कीड़ो को ही मारते हैं, मगर इसी मान्यता में भूल है । वास्तव में तुम आरोग्यरक्षक कीड़ो को सशक्त बनाते हो । ऐसा करने से आरोग्यनाशक कीड़े अशक्त होकर स्वतः मर लाते हैं । तुम आरोग्यनाशक कीड़ो को मार डालते हो, यह तुम्हारा खयाल गलत है । तुम ऐसा क्यों नहीं मानते कि दवा द्वारा तुम आरोग्यरक्षक कीटाणुओं को सशक्त बनाते हो ? इस दृष्टि से विचार करने पर तुम्हारा लक्ष्य कीड़ो को मारना नहीं वरन् सशक्त बनाना सिद्ध होता है । यही दृष्टि लक्ष्य में रखोगे तो हिंसा करने के बदले रक्षा करने का तुम्हारा लक्ष्य रहेगा । उदाहरणार्थ जब दीपक जलाया जाता है तो अधिकार स्वतः नष्ट हो जाता है । परन्तु यह नहीं कहा जाता कि अधिकार नष्ट हुआ, वरन् यही कहा जाता है कि दीपक उजल गया है । इसी प्रकार अगर दवा द्वारा कीटाणुओं को सशक्त बनाना कहा जाये और ऐसा ही माना जाये तो हिंसा के समर्थन के बदले अहिंसा का समर्थन होता है ।

ससार में कुछ लोग अधिकार का समर्थन करने वाले निकल आएँगे और कुछ प्रकाश का समर्थन करने वाले निकलेंगे, परन्तु प्रकाश का समर्थन करने वाले शुक्लपक्षीय कहलाएँगे और अधिकार का समर्थन करने वाले कृष्णपक्षीय कहलाएँगे । प्रकाश तो शुक्लपक्ष में भी रहता है और कृष्णपक्ष में भी रहता है, फिर भी एक को शुक्लपक्ष और दूसरे को कृष्णपक्ष क्यों कहते हैं ? इसका कारण यही है कि एक



पक्ष प्रकाश का समर्थक है और दूसरा पक्ष अधकार का समर्थक है । इसी कारण दोनों पक्षों के नाम भिन्न-भिन्न हैं । साधारणतया देखा जाये तो पूर्णिमा के बाद आने वाली प्रतिपद् के दिन अधकार कम होता है और प्रकाश अधिक होता है, परन्तु वह पक्ष अधकार का पक्षपाती होता है, इसी कारण उसकी गणना कृष्णपक्ष में करते हैं । इसी तरह शुक्ल पक्ष की द्वितीया के दिन नाम मात्र को ही प्रकाश होता है, फिर भी वह पक्ष प्रकाश का पक्षपाती है, इसी कारण उसकी गणना शुक्लपक्ष में की गई है । मगर मेरे दो शुक्लपक्षीय लोग भी रहेगे और कृष्णपक्षीय भी रहेगे । मगर तुम विवेकपूर्वक विचार करो कि इन दोनों में से तुम्हें किस पक्ष में रहना है ? तुम हिंसा के पक्ष में रहना चाहते हो या अहिंसा के पक्ष में रहना चाहते हो ? विवेक के साथ तुम्हें निर्णय करना चाहिए ।

शास्त्र में शुभाशुभ भावों की शुक्लता और कृष्णता बतलाकर छह लेश्याओं के विषय में विचार किया गया है । छह लेश्याओं में तीन लेश्याएँ तो शुभ अर्थात् धर्म की द्योतक हैं और तीन अशुभ अर्थात् पाप की द्योतक हैं । इन शुभाशुभ लेश्याओं को उदाहरण द्वारा समझाता हूँ ।

अलग-अलग प्रकृति वाले छह मनुष्य कुल्हाड़ियाँ लेकर घर से बाहर निकले । रास्ते में उन्होंने आम्रफल से भुका हुआ आम्रवृक्ष देखा । पके आम देखकर सब ने खाने का विचार किया । मगर वृक्ष बहुत ऊँचा था । प्रश्न उपस्थित हुआ—आम किस तरह खाने जए ?

उन छह में से एक ने कहा—अपने पास कुल्हाड़ी है ।

वृक्ष को मूल से ही काट गिराया जाये तो सरलता से आम ले सकेंगे । इस प्रकार पहले मनुष्य ने केवल आमों के लिए सारे वृक्ष को ही काट डालने का विचार किया । शास्त्र कहता है, इस प्रकार विचार करने वाला मनुष्य कृष्णलेश्या वाला है । क्योंकि वह थोड़े से लाभ के लिए महान् अनर्थ करने को तैयार हुआ है । वृक्ष काट डालने से केवल उन्हें ही थोड़े से फल मिल जाएंगे, परन्तु वृक्ष अगर कायम रहा तो न जाने कितने लोगो को आम मिलेंगे । ऐसा होने पर भी वह मनुष्य स्वार्थ में अधा होकर महान् अनर्थ करने पर उतारू हो गया है । वह कृष्णलेश्या वाला है ।

दूसरे मनुष्य ने पहले से कहा—‘भाई ! सारा पेड़ काटने से क्या लाभ ! अगर वृक्ष की शाखाओं को काट लिया जाये तो फल भी मिल जाएंगे और वृक्ष भी कायम रह सकेगा ।’ इस दूसरे मनुष्य की लेश्या भी थोड़े लाभ के लिए विशेष हानि करने की है, फिर भी पहले मनुष्य की अपेक्षा अच्छी है । अतएव दूसरा मनुष्य नीललेश्या वाला कहलाता है ।

तीसरे मनुष्य ने कहा ‘भाई ! आम तने में तो लगे नहीं । आम तो छोटी-छोटी डालियों में लगते हैं, फिर वृक्ष की शाखा काटने से क्या लाभ है ? छोटी डालियाँ काट लेना ही अच्छा है, इससे हमें आम भी मिल जाएंगे और वृक्ष भी बचा रहेगा ।’ इस तीसरे मनुष्य के विचार के अनुसार कार्य होने में हानि अधिक और लाभ थोड़ा है, अतएव इसकी लेश्या कापोती होने के कारण पापकारिणी तो है ही, फिर भी पहले और दूसरे मनुष्य की लेश्या की

अपेक्षा यह लेश्या अच्छी है। यह तीनो लेश्याएँ पापकारिणी और अप्रशस्त मानी जाती हैं।

चौथे मनु य ने कहा—‘भाई ! डालियाँ काटने से पत्ते भी कट जाएँगे और वृक्ष छ या देने योग्य नहीं रह जाएगा । हमे तो आमो से मतलब है, अतएव सब आम गिरा लिये जाएँ तो ठीक है।’ इस चौथे की भावना पूर्वोक्त तीनो की अपेक्षा प्रशस्त है और इसीलिए उसकी लेश्या तेजो-लेश्या कहलाता है। यह तेजोलेश्या, पद्मलेश्या से हीन होने पर भी पहली तीनो लेश्याओ से अच्छी है। इसी लेश्या से धर्म का आरम्भ होता है।

पाचवें मनुष्य ने कहा—‘भाई ! सभी आम गिराने से भी क्या लाभ ? अगर पके पके आम तोड़ लिए जाए तो ठीक है। कच्चे आम जब पकेगे तो दूसरो के काम आएगे।’ इसकी लेश्या पद्मलेश्या है। यद्यपि पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या से नीची है फिर भी पूर्वोक्त चारो की अपेक्षा प्रशस्त है। यह लेश्या धर्मरूप है।

छठा शुक्ललेश्या वाला मनुष्य है। इसने कहा—भाइयो ! तुम पके आम खाना चाहते हो तो फिर इतना अनर्थ क्यों करते हो ? वृक्ष उदार होता है। वह पके फलो को अपने पास संग्रह करके नहीं रखता। लोगो के हित के लिए नीचे गिरा देता है। अगर अभी हवा चलेगी तो पके आम स्वयं नीचे गिर जाएंगे। इसलिए थोड़ी देर राह देखो।’ इस मनुष्य की भावना अत्यन्त उच्च है। इसे शुक्ललेश्या कहते हैं। यह सर्वश्रेष्ठ लेश्या कही गई है। यद्यपि आम तो सभी को खाने हैं परन्तु आम प्राप्त करने के प्रयत्नो

मे अन्तर है !

इस प्रकार छह लेश्याओं में तीन पापकारिणी और तीन वर्मकारिणी हैं । इसका कारण यही है कि तीन लेश्याएं पाप का पक्ष लेने वाली हैं और तीन वर्म का पक्ष लेने वाली हैं । जिस व्यक्ति में वर्म होगा और जो वर्म का पक्ष लेता होगा, वह तो हिंसा से वचने का ही प्रयत्न करेगा

कहने का आशय यह है कि संसार में हिंसा और अहिंसा दोनों के स्वतन्त्र पक्ष हैं । परन्तु तुम्हें तो अहिंसा का पक्ष लेना चाहिए और हिंसा से वचना चाहिए । तुम्हारे लिए स्थूल हिंसा त्याज्य है । स्थूल हिंसा के भी दो भेद किये गये हैं एक सकल्पी हिंसा और दूसरी आरम्भी हिंसा है । आरम्भ की हिंसा का गृहस्थ त्याग नहीं कर सकता, अतः उसकी गृहस्थ के लिए छूट है । खेती करने में अगर कोई कीड़ा आदि मर जाये तो उससे तुम्हें कोई पापी नहीं कह सकता, अगर जान-बूझकर तुम कीड़े को मारोगे तो अवश्य पापी कहलाओगे, क्योंकि वह हिंसा सकल्प की हिंसा है । सकल्पी हिंसा भी दो प्रकार की है—अपराधी की हिंसा और निरपराध की हिंसा । इनमें से निरपराध जीव का मारना तुम्हारे लिए वर्ज्य है । श्रावको को अपराधी को मारने का त्याग नहीं होता । किन्तु निरपराध जीव को मारने का त्याग श्रावक को करना ही चाहिए । निरपराधी जीव को सकल्प करके मारने में व्यवहार में भी तुम पापी कहलाओगे । इस प्रकार तुम्हारे लिए चलते-फिरते जीव को ( जो व्यवहार में भी जीव माने जाते हैं ) सकल्पपूर्वक मारने का त्याग करना आवश्यक है । स्थूल हिंसा से वचना श्रावक का पहला अहिंसाव्रत है ।

श्रावक अपराधी को मारने का त्यागी नहीं होता । लोग कहते हैं कि अहिंसा का पालन करने से कायरता आती है । परन्तु ऐसा कहना भूल है । जान पड़ता है, यह भ्रम-पूर्ण मान्यता कुछ जैन नामधारी लोगो के कायरतापूर्ण व्यवहार से ही प्रचलित हो गई है । जैनधर्म गृहस्थ के लिए यह नहीं कहता कि गृहस्थ अपराधी को मारने का भी त्याग करे । गृहस्थ के लिए जैनधर्म ने अपराधी को मारना निषिद्ध नहीं ठहराया है और न अपराधी को दण्ड देने वाले को पापी ही कहा है । यह बात स्पष्ट करने के लिए यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है :—

जिस समय भारतवर्ष में चारों ओर अराजकता फैलती जा रही थी, और शक्तिशाली लोग अशक्तों को सता रहे थे, उस समय नौ लिच्छवों और नौ मल्लों नामक अठारह राजाओं ने मिलकर एक गण-संघ की स्थापना की थी । इस गणसंघ का उद्देश्य सबलों द्वारा पीड़ित निर्बलों की रक्षा करना था । गणसंघ के अठारह गणराजाओं का गणनायक (President) चेटक राजा था । राजा चेटक या चेडा भगवान् महावीर का पूर्ण भक्त था । आज तुम लोग ढीली घोंती पहनने वाले बनिया बन रहे हो, परन्तु जैनधर्म क्षत्रियों का धर्म है । तुम्हें धर्म ने बनिया नहीं बनाया है । तुम महाजन बने थे । व्यापार में लग जाने के कारण आज तुममें गुलामी का भाव आ गया है और तुम बनिया बन गये हो । स्वार्थ की अधिकता के कारण तुम्हारे हृदय में कायरता और गुलामी घुस गई है । वास्तव में तुम वणिक नहीं, महाजन हो ।

सशक्त लोगो से निर्बलों की रक्षा करने के लिए ही

गणसघ की स्थापना की गई थी। जिस समय की यह घटना है उस समय चम्पा नगरी में कोणिक राजा राज्य करता था। कोणिक राजा श्रेणिक का पुत्र था। कोणिक के बारह भाई थे, जिनमें सब से छोटे भाई का नाम बहिलकुमार था। बहिलकुमार के पास एक कीमती हार और एक हाथी था। यह हार और हाथी उसके पिता ने उसे पुरस्कार दिया था। बहिलकुमार को राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला था। उसने हार और हाथी पाकर ही सतोष मान लिया था।

बहिलकुमार हाथी पर सवार होकर आनन्दपूर्वक क्रीड़ा करता था। लोग उसकी प्रशंसा करते हुए कहते थे—राज्य के रत्नों का उपभोग तो बहिलकुमार ही करते हैं। कोणिक के लिए तो केवल राज्य का भार ही है। लोगों का यह कथन कोणिक की रानी पद्मा के कानों तक पहुंचा। रानी ने विचार किया—‘किसी भी उपाय से वह हार और हाथी राज्य में मगवाना चाहिए।’ यह सोचकर रानी ने कोणिक से कहा—‘नाथ ! राजा आप हैं मगर राज्य के रत्नों का—हार और हाथी का—उपभोग बहिलकुमार करता है। तुम्हारे पास तो केवल निस्सार राज्य ही है।’

कोणिक ने कहा—स्त्रियों की बुद्धि बहुत ओछी होती है। इसी कारण तू ऐसा कहती है। बहिलकुमार के पास तो सिर्फ हार और हाथी है, मगर मैं तो सारे राज्य का स्वामी हूँ। इसके अतिरिक्त बहिलकुमार के पास हार और हाथी है तो कोई गैर के पास थोड़े ही है ! आखिर है तो मेरे भाई के पास ही न ?

रानी पद्मा ने सोचा—मेरी यह युक्ति काम नहीं आई।

अब दूसरा कोई उपाय काम में लाना चाहिए । यह सोच-कर उसने कोणिक से कहा— तुम्हें अपने भाई पर इतना अधिक विश्वास है, यह मुझे नहीं मालूम था । तुम्हें इतना विश्वास है, यह अच्छा ही है । मगर एक बार अपने विश्वासपात्र भाई की परीक्षा तो कर देखो कि उन्हें तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है और तुम्हारे विश्वास पर वह हार तथा हाथी भेजता है या नहीं ?

कोणिक को यह बात पसन्द आ गई । उसने बहिल-कुमार के पास सदेश भिजवा दिया— इतने दिनों तक हार और हाथी का उपभोग तुमने किया है । अब कुछ दिनों तक हमें उपभोग करने दो ।

यह सदेश पाकर बहिलकुमार ने सोचा अब कोणिक की नजर हार और हाथी पर पड़ी है । वह प्रत्येक उपाय से हार-हाथी को हस्तगत करने की चेष्टा करेगा । मुझे राज्य में कोई हिस्सा नहीं मिला । फिर भी मैंने हार-हाथी पाकर ही सतोष मान लिया । अब यह भी जाने की तैयारी में है !

इस प्रकार विचार कर और हार तथा हाथी को बचाने के लिए बहिलकुमार रात्रि के समय निकल पड़ा और अपने नाना राजा चेटक की शरण में जा पहुंचा । बहिलकुमार ने राजा चेटक को सारी घटना कह सुनाई । चेटक ने सम्पूर्ण घटना सुनकर बहिलकुमार से कहा— 'तुम्हारी बात ठीक है ।' राजा चेटक ने उसे अपने यहा आश्रय दिया ।

बहिलकुमार हार और हाथी लेकर बाहर चला गया है, यह समाचार सुनते ही पद्मा रानी को कोणिक के कान

भरने के लिए पूरी सामग्री मिल गई। वह कोणिक के पास जाकर कहने लगी—तुम जिसे भाई—भाई कहकर ऊँचा चढ़ाते थे, उसकी करतूत देख ली न ! तुम्हारे भाई को तुम्हारे ऊपर कितना विश्वास है ! उसने हार और हाथी नहीं भेजा। इतना ही नहीं, कदाचित् तुम जबर्दस्ती हार-हाथी लूट लोगे। इस भय से वह अपने नाना की शरण में भाग गया है। वहाँ जाने की कोई खबर भी उसने तुम्हारे पास नहीं भेजी। अब मैं देखती हूँ कि तुम क्या करते हो और हार तथा हाथी प्राप्त करने के लिए कैसी वीरता दिखाते हो !

इस प्रकार की उत्तेजनापूर्ण बातें कहकर पद्माने कोणिक को खूब भड़काया। पद्मा की यह बातें सुनकर कोणिक को भी क्रोध आ गया। वह कहने लगा मैं चेडा राजा के पास अभी दूत भेजता हूँ। अगर चेडा राजा बुद्धिमान् होगा तो बहिलकुमार को हार और हाथी के साथ मेरे पास भेज देगा।

कोणिक का दूत राजा चेटक के पास पहुँचा। दूत का कथन सुनकर चेटक ने उत्तर में कहला दिया—मेरे लिए तो कोणिक और बहिलकुमार दोनों सरीखे हैं। परन्तु जैसे कोणिक ने अपने दस भाइयों को राज्य में हिस्सा दिया है उसी प्रकार बहिलकुमार को भी हिस्सा दिया जाये अथवा हार और हाथी रखने का अधिकार उसे दिया जाये।

चेटक का यह उत्तर न्यायदृष्टि से ठीक था। मगर सत्ता के सामने न्याय-अन्याय कौन देखता है ! जिसके हाथ में सत्ता है, वह तो यही कहता है कि हमारा वाक्य न्याय है और जिधर हम उगली उठावे उधर ही पूर्व दिशा है।



चेटक का उत्तर सुनकर कोणिक ने फिर कहला भेजा— हम राजा हैं । रत्नों पर राजा का ही अधिकार होता है । तुम्हें हमारे बीच में पड़ने की कोई आवश्यकता नहीं है । बहिलकुमार को मेरे पास भेज दो । हम भाई-भाई आपस में निपट लेंगे ।

दूत ने चेटक के पास पहुँचकर कोणिक का सन्देश सुनाया ।

कोणिक ने अपने सन्देश में राज्य का हिस्सा देने के विषय में कुछ भी नहीं कहलाया था । अतएव चेटक ने यही प्रत्युत्तर दिया—अगर कोणिक, बहिलकुमार को राज्य में हिस्सा देने को तैयार हो, तब तो ठीक है । मगर उसने इस सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहलाया । ऐसी स्थिति में बहिलकुमार को कैसे भेज सकता हूँ ? सबलो से निर्बलो की रक्षा करना तो हमारी प्रतिज्ञा है ।

दूत फिर चम्पानगरी लौट गया और चेटक का उत्तर कोणिक से कह दिया । कोणिक को अपनी शक्ति का अभिमान था । उसने राजा चेटक को कहला दिया—या तो बहिलकुमार को हार-हाथी के साथ मेरे पास भेज दो, अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाओ । -

चेटक राजा ने अपने गणसंघ के सब सदस्यों को एकत्र किया और सम्पूर्ण घटना से परिचित किया । ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए, इस विषय में उनकी सम्मति पूछी । आगे-पीछे का विचार करने के बाद सभी राजा इस निर्णय पर पहुँचे कि—क्षत्रिय होने के नाते सबलो द्वारा सताये जाने वाले निर्बलो की रक्षा करना हमारा धर्म है ।

अपने गणसघ का उद्देश्य भी निर्बलो की रक्षा करना है । वहिलकुमार न्याय के पथ पर है । न्यायदृष्टि से उसे कोणिक के पास भेज देना उचित नहीं है । युद्ध करके शरणागत की रक्षा करना ही हम लोगों का कर्त्तव्य है ।

गणराजा अपने धर्म का पालन करने के लिए अपने प्राण तक देने पर उतारू हो गये । परन्तु तुम लोग धर्म की रक्षा के लिए कुछ करते हो ? क्या तुम धर्म की रक्षा के लिए थोड़ा-सा भी स्वार्थ त्याग सकते हो ? स्वार्थ त्याग करने से ही धर्म की रक्षा हो सकती है । गणराजाओ जैसी परिस्थिति अगर तुम्हारे सामने उपस्थित हो जाये तो तुम क्या करोगे ? कदाचित् तुम यही सोचोगे कि - कहा का हार और कहा का हाथी ! हमारा उससे क्या लेन-देन है ? मगर क्या यह राजा लोग ऐसा नहीं सोच सकते थे ? वास्तव में इस प्रकार का विचार करना कायरता का काम है । वीर पुरुष ऐसा तुच्छ विचार नहीं करते । वे दूसरों की रक्षा के लिए सदैव उद्यत रहते हैं । आज तो लोगों में कायरता व्याप गई है । यह कायरता स्वार्थपूर्ण व्यापार के कारण आई है, मगर लोगों का कहना है कि वह धर्म के कारण आई है । यह कहना एक गम्भीर भूल है । धर्म के कारण कायरता कदापि नहीं आ सकती । वीर पुरुष ही धर्म का पालन कर सकते हैं ।

समस्त गणराजाओं के साथ चेड़ा राजा युद्ध के लिए तैयार हो गया । इधर काणिक राजा भी अपने दसो भाइयों के साथ युद्ध के लिए तैयार हुआ । यद्यपि क.णिक के दस भाई वह सकते थे कि हम सब को राज्य का हिस्सा मिला

है तो बहिलकुमार को भी हिस्सा मिलना चाहिए, परन्तु उन्होंने भी सत्ता के सामने मस्तक झुका दिया। इतिहास-वेत्ताओं का कथन है कि गणराज्य प्रजातन्त्र राज्य के समान था। परन्तु दूसरे राजा स्वच्छन्द थे और गरीबों पर अन्याय करते थे।

गणराजाओं की सेना का नेतृत्व चेटक ने ग्रहण किया। वास्तव में धार्मिक व्यक्ति धर्म की रक्षा के लिए सदा आगे ही रहता है। आज के प्रमुख तो कार्य करने के समय नौकरों को आगे कर देते हैं परन्तु चेटक राजा स्वयं अगुवा बना और उसने अपनी युद्धकला का परिचय दिया। राजा चेटक ने अपनी अचूक वाणावली के द्वारा कोणिक के भाइयों का शिरच्छेद कर डाला।

अपने भाइयों के मर जाने से कोणिक भयभीत हो गया। कोणिक ने तप आदि द्वारा इन्द्रो की आराधना की। उसकी आराधना के फलस्वरूप शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र आया। शक्रेन्द्र ने कोणिक से कहा—तुम्हारा पक्ष न्यायपूर्ण नहीं है और चेटक राजा का पक्ष न्यायपूर्ण है।

कोणिक बोला—कुछ भी ही, इस समय तो मेरी रक्षा करो।

शक्रेन्द्र ने उत्तर दिया—मैं अधिक तो कुछ नहीं कर सकूंगा, सिर्फ चेटक राजा के वाण से तुम्हारी रक्षा करूंगा। मैं उनका वाणवेध चुका दूंगा।

चमरेन्द्र बोला—तुम मेरे मित्र हो, इस कारण मैं सेनावैक्रिय करूंगा और रथमूसल का संग्राम वैक्रिय करके तुम्हें विजय दिलाऊंगा।

चमरेन्द्र से इस प्रकार आश्वासन पाकर कोणिक बहुत प्रसन्न हुआ । अब कोणिक फिर तैयार होकर राजा चेटक के सामन युद्ध करने आ पहुँचा । भगवान् न कहा— उस संग्राम मे एक करोड अस्सी लाख मनुष्य मारे गये ।

भगवतीसूत्र मे भी एक ऐसा उदाहरण आया है । वरुण नागननुआ नामक एक श्रावक था । यह श्रावक वेन वेले पारणा करता था । वह चेटक राजा का सामन्त था । एक बार उसे युद्ध मे आने के लिए कहा गया । उस समय उसके दूसरा उपवास था । क्या ऐसा उपवास करने वाले को युद्ध मे जाना उचित था ? क्या वह नही कह सकता था कि मैं उपवासी हूँ । युद्ध मे कैसे जा सकता हूँ ? परन्तु उसने ऐसा कोई उत्तर न देने हुए यही कहा कि अवसर आने पर सेवक को स्वामी की सेवा करनी हा चाहिए । स्वामी की सेवा करने के ऐन मौके पर कोई बहाना बनाकर किनारा काटना अनुचित है । अवसर आने पर नमकहराम बनना क्या हरामखोरी नही है ?

आज भारतवर्ष मे बडी हरामखोरी दिखाई देती है । जो लोग भारत का अन्न खाते है वही भारत की नाक कटाने वाले कामो मे शामिल होते है । जो वस्त्र भारत को गुलाम बनाते है, उन्ही को वे अपनाते है । भारत को सभ्यता का, रहन-सहन आदि को भुता दते है । यह नमकहरामी नही तो क्या है ? वायसराय गवर्नर आदि आते है और भारत का शासन करते है, पर उन्हे भारतीय वेषभूषा पहनने के लिए कहा जाये तो क्या वे कहना मानेंगे ? वे यही उत्तर देगे कि हम तो अपनी मातृभूमि की सेवा बजाने आये हैं,

द्रोह करने नहीं । अतएव हम अपना वेष कैसे छोड़ सकते हैं ? इस प्रकार अंग्रेज लोग भारत में रहते हुए भी अंग्रेजी पोशाक पहनकर फूले नहीं समाते । यह कृतघ्नता के सिवाय और क्या है ? पोशाक और रहन-सहन से मातृभूमि की पहचान होती है । मगर आज भारत का रहन-सहन बदल गया है । सम्यता बदल देने से मातृभूमि के प्रति द्रोह होता है । देशहित की दृष्टि से भी भारतीय संस्कृति अपनाने योग्य है ।

वरुण जागनतुआ वीर होने के कारण ही, उपवासो होता हुआ भी, देशरक्षा के लिए युद्ध में शामिल हो गया । मगर आज कायरता आ जाने के कारण देश, समाज और धर्म का पतन हो रहा है ।

कहने का आशय यह है कि चेटक राजा और वरुण जागनतुआ ने श्रावक या सम्यग्दृष्टि होने पर भी संग्राम लड़ा । फिर भी उनका स्थूल अहिंसाव्रत खंडित न हुआ । इसका कारण यही है कि वे निरपराध को ही मारने के त्यागी थे । ऐसी अवस्था में उनका स्थूल अहिंसाव्रत कैसे भंग हो सकता था ? अपराधी को मारने का समावेश स्थूल हिंसा में नहीं होता । राज्य भी ऐसे कामों को अपराध नहीं गिनता । लोग अपराधी को दण्ड देने के समय दूर-दूर भागते हैं और निरपराध के गले पर कलम कुठार चलाने के लिए तैयार हो जाते हैं । यह उनकी कायरता है ।

उक्त कथन का आश्रय यह है कि गृहस्थधर्म मर्यादा-युक्त है । गृहस्थधर्म का प्रालन करने से आत्मा का विकास भी होता है और सांसारिक काम भी नहीं रुकता । जैन-

धर्म वीर का धर्म है । इस वीर धर्म में कायरता के लिए लेश मात्र भी गुंजाइश नहीं । जिसमें वीरता होगी वही जैनधर्म का भलीभांति पालन कर सकेगा । आज कायरता को पोषने का जो अपवद जैनधर्म पर लगाया जाता है, उसका प्रधान कारण जैन कहलाने वालों का कायरतापूर्ण व्यवहार ही है । अगर जैनधर्म का यथोचित पालन किया जाये तो देश, समाज और धर्म का उत्थान हुए बिना नहीं रह सकता । धर्मपालन के लिए वीरता और धीरता की आवश्यकता रहती है । जो मनुष्य अपनी ही रक्षा नहीं कर सकता वह दूसरों की रक्षा कैसे कर सकता है ? देश, समाज और धर्म के उत्थान के लिए सर्वप्रथम नैतिक बल प्राप्त करने की आवश्यकता है ।

तुम श्रावकधर्म का गम्भीर विचार करो और उसका भलीभांति पालन करने का प्रयत्न करो । अगर तुम सभी वस्तुओं के त्यागी होते या साधु होते तो तुम्हें इस विषय में इतना अधिक कहने की आवश्यकता न होती । तुम गृहस्थ-श्रावक हो और इसीलिए तुम्हें समष्टि का ध्यान रखकर नियम बनाने चाहिए । व्यक्तिगत प्रश्नों को एक ओर रखकर समष्टि के हित का श्रावकों को खास ध्यान रखना चाहिए । अगर तुम अपने गृहस्थधर्म का बराबर पालन करोगे तो तुम्हारा कल्याण होगा । अब मूल विषय पर आना चाहिए ।

उपधि की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकार कहते हैं— जिसके प्रताप से आत्मा दुर्गति को प्राप्त हो वह उपधि है । श्रीमथानागसूत्र में उपधि के तीन भेद कहे गये हैं (१) कर्म-उपधि (२) शरीर-उपधि और (३) बाह्य भंडोप्रकरण उपधि ।

कर्म भी उपधि है और इसी उपधि के कारण आत्मा परमात्मा से बिछुड़ा हुआ है । कर्म उपधि के कारण ही आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव करना पड़ता है । परन्तु सुख-दुःख बाहर से आये हैं, इस प्रकार आत्मा का मानना भूल है । कर्म-उपाधि के कारण ही आत्मा को शरीर धारण करना पड़ता है । आत्मा जब शरीरधारी बना है तो उसे अनेक बाह्य वस्तुओं की भी आवश्यकता रहती है । आत्मा इन बाह्य वस्तुओं को अपनी मानकर भयानक भूल करता है । मकान लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि से बनता है । परन्तु आत्मा उसे अपना समझ बैठता है । जबतक मकान, लकड़ी पत्थर आदि से नहीं बना था तब तक आत्मा को उसके प्रति ममत्व भाव नहीं था । परन्तु घर जब तैयार हो गया तब आत्मा ममता के कारण उसे अपना मानने लगा । इस प्रकार कर्मउपधि और शरीरउपधि के कारण ही बाह्य उपकरणों की आवश्यकता उपस्थित होती है और फिर उन बाह्य उपकरणों के प्रति ममता का भाव जागृत हो जाता है । शास्त्र के कथनानुसार यह उपधि ही उपाधि है । यह उपधि आत्मा को ससार-जाल में फँसाने वाली है । अतएव उपधि के त्याग का यथाशक्ति प्रयत्न करो और बाह्य पदार्थों के प्रति जो ममत्वभाव बन्ध गया है उसे शक्य प्रयत्न द्वारा दूर करो ।

प्रश्न किया जा सकता है कि उपधि का त्याग किस प्रकार किया जाये और पदार्थों सम्बन्धी ममता का निवारण किस प्रकार किया जाये ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि धर्म की आराधना करने से उपधि का त्याग भी हो सकता है और ममत्व भी दूर हो सकता है । धर्म दो प्रकार का

है आगारधर्म अर्थात् गृहस्थधर्म और अनगारधर्म अर्थात् साधुधर्म । दोनों प्रकार के धर्म की श्रद्धा तो समान ही है, केवल स्पर्शना-आराधना में अन्तर है । अतएव अगर आज तुम शास्त्र के इस कथन को जीवन में सक्रिय रूप नहीं दे सकते तो इतना तो मानो कि उपाधि, उपाधि ही है और आत्मा तथा इतर पदार्थ भिन्न-भिन्न है । मासारिक पदार्थों में जितनी कम ममता होगी उतना ही अधिक सुख मिलेगा और जितनी ज्यादा ममता होगी उतना ही अधिक दुःख होगा । जब तक तुम इन पदार्थों की ममता में फँसे रहोगे तब तक आत्मा की उन्नति नहीं हो सकेगी । आज का विज्ञान भी यही कहता है कि जो मनुष्य दूसरों के फँदे में फँसा रहता है वह अपना विकास नहीं कर सकता । ममत्व का त्याग करने वाला ही अपना विकास कर सकता है । कमल जल में लिप्त होकर रहे तो उसका विकास नहीं हो सकता । वह जल से अलिप्त होकर जब बाहर निकलता है तभी उसका विकास होता है । यही बात आत्मा के विकास के लिए लागू होती है । आत्मा भी जब तक बाह्य पदार्थों में लिप्त रहता है, तब तक वह अपना विकास नहीं साध सकता । जब वह पदार्थों के ममत्वलेप से रहित हो जाता है तभी अपना विकास साध सकता है इसीलिए शास्त्रकारों ने उपाधि के त्याग का उपदेश दिया है । भगवान् ने कहा है—उपाधि का त्याग करने से आत्मा कर्मरहित बनकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है । इस प्रकार एक तरह की उपाधि का त्याग करने से प्राप्त होने वाला फल कहा गया है ।

एक उपाधि ऐसी भी है जिससे सयम मार्ग की पुष्टि होती है । प्रश्न किया जा सकता है कि एक ओर तो उपाधि



का त्याग करने के लिए कहा जाता है और दूसरी ओर-  
उपधि से सयम की पुष्टि होना बतलाया जाता है । इसका  
क्या कारण है ? इसका समाधान यह है कि उपधि बधन-  
रूप होने से त्याज्य है और दूसरी सयम में सहायक होने  
के कारण, विवश होकर रखनी पड़ती है । इसी कारण वह  
ग्राह्य है । यह बात एक साधारण उदाहरण द्वारा विशेष  
स्पष्ट की जाती है ।

कल्पना करो, किसी मनुष्य के पैर में फोड़ा हो गया  
है । डाक्टर ने मलहम लगा कर पट्टी बांधने के लिए कहा ।  
डाक्टर के कथनानुसार उसने मलहम लगाया और पट्टी बांध  
ली । अब यहाँ विचारणीय यह है कि उसने कपड़े की पट्टी  
ममता के कारण बांधी है या दुःख दूर करने के लिए बांधी  
है ? आखिर वह पट्टी को छोड़ ही देने वाला है । मगर  
जब तक उसके पैर में फोड़ा है, तब तक उसे पट्टी बांधनी  
पड़ेगी । पैर में फोड़ा न होता तो वह पट्टी क्यों बांधता ?  
पैर में पट्टी बांधने की इच्छा तो उसकी है नहीं, फिर भी  
फोड़े की पीड़ा जब तक बनी है तब तक विवश होकर उसे  
पट्टी बांधनी पड़ती है ।

यही बात साधुओं की उपधि के विषय में समझना  
चाहिए । साधु सयम का पालन करने के लिए ही उपधि  
रखते हैं । अगर रखकर अर्थात् दस्त्र-पात्र आदि संयम के  
साधन रखकर साधु अभिमान करे तो वह उसी प्रकार अनु-  
चित है, जैसे फोड़ा न होने पर भी पट्टी बाँधना अनुचित है ।  
परन्तु जैसे फोड़ा होने पर पट्टी बांधना अनुचित नहीं है,  
उसी प्रकार निरभिमान होकर और अपनी अशक्ति को

स्वीकार करके उपधि रखना साधुओं के लिए अनुचित नहीं है । शहरो में कितने ही भिखारी भोख मागने के लिए पैर पर कपड़ा बांध कर ढोग करते हैं ऐसा ढोग करना दूसरी बात है । ऐसा ढोग करके उपधि रखने वाले की सभी ने निंदा की है । परन्तु फोड़ा होने पर जैसे पट्टी बांधना अनुचित नहीं है, उसी प्रकार समय का पोषण करने वाली उपधि को, जब तक कर्मों का नाश न हो जाये तब तक या उपधि त्याग करने की शक्ति आने तक, रखना अनुचित नहीं है । हाँ, उपधि रखकर अभिमान करना या आनन्द मानना उसी प्रकार मूर्खता है, जिस प्रकार फोड़ा होने पर भी पैर में पट्टी बाँधना मूर्खता है । भगवान् कहते हैं, जिस वस्तु की जितनी अनिवार्य आवश्यकता है उतनी ही उपाधि रखनी चाहिए, परन्तु जिसकी आवश्यकता नहीं है और जिसका त्याग करने की शक्ति है, उस वस्तु को अपनाये रखना भी मूर्खता है । फिर भी जब तक उपधि रखनी पड़ रही है तब तक किसी प्रकार का अभिमान न करना चाहिए । ऐसा न हो कि सुन्दर वस्त्र और सुन्दर अन्य वस्तुएँ रखे और फिर उन पर ममत्व एवं अभिमान करे । फोड़े पर जो पट्टी बांधी जाती है, वह आघात आदि से बचने के लिए ही है, सुन्दरता बढ़ाने के लिए नहीं । इसी प्रकार साधु जो वस्त्र रखते हैं सो लज्जा की रक्षा के लिए ही हैं तथा शरीर को शीत और ताप के आघात से बचाने के लिए हैं, जिन्हें सहन करने की शक्ति साधु में अभी तक नहीं आई है । अतएव साधुओं को वस्त्र आदि रखने में शृङ्गार की भावना से बचना ही चाहिए । शृङ्गार की भावना होने पर वस्त्र आदि उपाधि समय में बाधक सिद्ध होती है ।

शक्ति न होने पर भी उपधि का त्याग कर देना उचित नहीं, ऐसा करने से अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की संभावना रहती है । जैसे फोड़ा मिटने से पहले ही पट्टी उतार देने से फोड़े के बढ़ जाने का, पक जाने का या उसमें कीड़े पड़ जाने का भय रहता है, उसी प्रकार शक्ति न होने पर भी उपधि का त्याग करने से अनेक अनर्थ होने की संभावना रहती है । अतएव उपधि का त्याग करने में विवेक की आवश्यकता है । अगर शक्ति हो तब तो उपधि का त्याग करना ही चाहिए । अगर शक्ति न हो तो समय के निर्वाह के लिए उपधि रखना कुछ बुरा नहीं है । हाँ, उपधि के कारण अभिमान करना तो बुरा ही है । शास्त्र कहता है कि साधुओं को तो ऐसी ऊँची भावना भानी चाहिए कि वह शुभ अवसर कब मिलेगा जब मैं सब प्रकार की उपधि का त्याग कर जिनकल्पी बनकर विचरूँगा । जब साधुओं को ऐसी उच्च भावना भाने के लिए कहा गया है तो फिर उपधि रखने के कारण साधुओं को अभिमान क्यों करना चाहिए ? उपधि रखकर अभिमान करने से संयम का पोषण करने वाली भी दुर्गति-के मार्ग पर ले जाने वाली बन जाती है ।

उपधि के त्याग से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया—उपधि का त्याग करने वाला भय आदि क्लेश से रहित हो जाता है अर्थात् उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता । उपधि का त्याग करने से जीवात्मा किस प्रकार निर्भय बनता है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है:—

मान लो, एक आदमी सोने का हार पहन कर जंगल में गया है और दूसरे आदमी ने सोने का कुछ भी गहना

नहीं पहना । अब जंगल में चोर मिल जाये तो किसे भय लगेगा ? अगर सोने का हार पहने वाले के हृदय में हार के प्रति ममत्व न होगा और निर्भय होकर वह विचार करेगा कि सोना क्या चीज है ! चोर ले जाये तो भले ही ले जाय, तो उसे भय होने का कोई कारण नहीं । अगर हार के प्रति उसे ममता होगी तो चोर का भय लगे बिना नहीं रहेगा । सोने के प्रति ममत्व होने के कारण कभी-कभी सोने के साथ जान जाने का भी भय हो जाता है ।

जिस प्रकार सोने के प्रति ममता न होने के कारण मनुष्य निर्भय बन जाता है, उसी प्रकार उपधि का त्याग करने से जीवात्मा क्लेशरहित हो जाता है । बाह्य उपधि का त्याग करने के बाद कर्म की और शरीर की जो उपधि शेष रह जाती है, उसके लिए भगवान् ने कहा—बाह्य उपधि की भाँति कर्म और शरीर की उपधि का भी त्याग करना चाहिए । उपधि का त्याग करने से ज्ञान, ध्यान तथा स्वाध्याय भी भलीभाँति हो सकता है । जब तक उपधि होती है तब तक उपकरणों की सार-समाल भी रखनी पड़ती है और उनके उठाने-धरने की भी चिन्ता करनी पड़ती है । इसी प्रकार जब तक शरीर की उपधि बनी है तब तक भोजन-पानी लेने के लिए जाने में भी समय का भोग देना ही पड़ता है । अतएव उपधि का जितना त्याग हो सके उतना ही अच्छा है । लेकिन अपनी शक्ति देखकर ही उपधि का त्याग करना उचित है । उपधि के त्याग की शक्ति न हो तो उपधि के कारण अभिमान नहीं करना चाहिए वरन् ऐसी उच्च भावना भानी चाहिए कि मैं इस उपधि का त्याग करने के लिए कब समर्थ हो सकूँगा !

—उपधि दो प्रकार की होती है—औधिक उपधि और औपग्रहिक उपधि । जिसके बिना काम चल ही नहीं सकता अर्थात् जिस वस्तु की अनिवार्य आवश्यकता रहती है, वह औधिक उपधि है और जो वस्तु किसी विशेष कारण से लेनी पड़ती है और कारण मिटने के बाद त्याग दी जाती है, वह औपग्रहिक उपधि कहलाती है । यह बात गृहस्थो की उपधि के लिए भी लागू पड़ती है और साधुओं की उपधि के लिए भी । साधु जघन्य वारह, मध्यम चौदह और उत्कृष्ट पच्चीस उपधि-उपकरण रख सकता है । इससे अधिक नहीं रख सकता । यहाँ निर्ग्रन्थधर्म का ही वर्णन किया जा रहा है अतएव यह मर्यादा निर्ग्रन्थ साधु के लिए बतलाई गई है । यहाँ गृहस्थधर्म का वर्णन नहीं किया गया है परन्तु इस कथन के आधार पर गृहस्थो को भी विचार करना चाहिए और जितनी उपधि कम हो सके उतनी का त्याग करना चाहिए ।

तुम श्रावक लोग जो सामायिक करते हो सो उपधि के त्याग का अभ्यास करने के लिए ही है । अगर आज तुम उपधि का त्याग करने में समर्थ नहीं हो तो उपधिरूप उपाधि में रहते हुए भी अभिमान मत करो । बल्कि उपधि के प्रति ममत्व कम करके परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ो । ऐसा करने से एक दिन उपधि का त्याग करने में सामर्थ्य-वान् हो सकोगे । यह दुःख की बात है कि तुम लोग संसार-सबन्धी कार्यों में बहुत समय व्यतीत कर देते हो, परन्तु परमात्मा को पसन्द आने योग्य कार्यों में समय नहीं लगाते । अगर तुम चाहो तो व्यावहारिक कार्यों के साथ परमात्मा का नाम स्मरण करके तथा परमात्मा को पसन्द आने वाले सत्कार्य करके आत्मकल्याण कर सकते हो । ऐसा होने पर

भी आत्मकल्याण न करना तुम्हारी कितनी बड़ी भूल है ?  
पनिहारी पानी भरते समय अपनी सखियों से बातें भी करती  
जाती है और घड़ा गिर न जाय, इस बात का ध्यान भी  
रखती है । जैसे पनिहारी का चित्त घड़े की ओर बराबर  
लगा रहता है, उसी प्रकार दूसरे काम करते हुए भी तुम  
अपने चित्त को परमात्मा में पिरोदो तो कितना अच्छा  
हो ? परमात्मा में चित्त एकाग्र करने से आत्मा का हित  
भी होता है और चित्त स्वच्छ भी रहता है । मन ही बध  
और मोक्ष का कारण है, अतएव मन जितना पवित्र रहेगा,  
उतना ही कल्याण होगा । मन को स्वच्छ या पवित्र रखने  
का सब से अच्छा साधन परमात्मा का नाम-स्मरण करना  
है । तुम्हारे शरीर को राजा कदाचित् बन्धन में डाल सकता  
है परन्तु मन को राजा तो क्या, कोई महान् शक्तिशाली  
व्यक्ति भी बन्धन में नहीं बाँध सकता । मन तो स्वतन्त्र  
ही है । अतएव जेल में भी अगर मन से परमात्मा का  
स्मरण किया जाये तो जेल भी कल्याण का धाम बन  
सकता है !

श्रीकृष्ण का जन्म कारागार में ही हुआ था । वसुदेव  
और देवकी जब कारागार में बन्द थे तब कृष्ण का जन्म  
हुआ । फिर भी वे क्या जेल में दुःख मानते थे ? अगर  
उन्होंने कारागार को कष्टागार माना होता तो क्या वे श्री-  
कृष्ण का आनन्द लूट सकते थे ?

एक पुस्तक में मैंने पढ़ा है कि देवकी जैसी सहनशील  
स्त्री दूसरी नहीं हुई । देवकी में स्त्री उचित अन्यान्य सद्गुण  
तो थे ही, परन्तु पति के वचन की रक्षा के लिए अपनी

सतान को सौंप देना और फिर समता रखना उसका बड़ा भारी गुण था । सतान सभी को प्रिय होती है । पशु पक्षी भी अपनी सतान पर प्रेम रखते हैं तो फिर मनुष्य का तो कहना ही क्या है ? विशेषतः स्त्रियो मे पुरुषो की अपेक्षा भी सतान के प्रति अधिक स्नेह पाया जाता है । परन्तु देवकी ने अपने पति के वचन की रक्षा के लिए ही अपनी प्राणप्रिय सतानो को मार डालने के लिए सौंप दिया । देवकी जब पुत्र को जन्म देती तो वसुदेव उससे कहते— मैं अत्यन्त पापी हू । मैंने जन्म होते ही सतान सौंप देने का वचन दे दिया है । मगर तुम तो स्वयं स्वतन्त्र हो जो उचित समझो वह कर सकती हो ।’ इस प्रकार वसुदेव ऐसे अवसर पर काँप उठते थे । देवकी के ऊपर ऐसे मौके पर दो उत्तरदायित्व आ पड़ते थे । एक तो पतिव्रत धर्म की रक्षा करने के लिए पति के वचन का पालन करना और दूसरे उस सतान की रक्षा करना जिसे उसने अभी जन्म दिया है । इन दोनों उत्तरदायित्व परस्पर विरोधी थे और दोनों मे से किसी एक का ही निर्वाह हो सकता था । देवकी ने अपने पति के वचन की रक्षा को ही अधिक महत्व दिया । देवकी मन मे यह विचार करती —मेरे पति काम, क्रोध, लोभ आदि के वश होकर कोई अनुचित काम करते होते तो मैं उस काम का विरोध करती और पति को सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करती । परन्तु मेरे पति तो धर्म का पालन कर रहे हैं और धर्म की रक्षा के लिए अपनी सतान का भी उत्सर्ग कर रहे है । ऐसी स्थिति में उनके कार्य को मैं कैसे अनुचित कहूँ ? मैं उनके कार्य मे कैसे बाधा डालूँ ? इस प्रकार विचार करके देवकी बालक का

जन्म होते ही वसुदेव को सौंप देती और कहती—यह बालक तो तुम्हारा ही है । मैं तो इसे पालन करने वाली दासी हूँ । इसलिए तुम्हें जो उचित प्रतीत हो वही करो । वसुदेव भी क्षत्रिय और वीर पुरुष थे । वह भी अपने वचन का पालन करने के लिए दृढप्रतिज्ञ थे ।

आज तुम लोगो ने कायरता के कपड़े पहन लिए हैं और इसी कारण तुम धार्मिक कार्यों में भी कायरता दिखाते हो और जो वचन देते हो उसका बराबर पालन नहीं करते । मगर दिये हुए वचन का प्राणों का उत्सर्ग करके भी अवश्य पालन करना चाहिए । कहा भी है :—

सत मत छोड़ो शूरमा, सत छोड़े पत जाय ।

सत की बांधी लक्ष्मी, फेर मिलेगी श्राय ॥

दृढप्रतिज्ञ मनुष्य कदापि वचनभंग नहीं करता । वचन भंग करने से प्रतीति—विश्वास कम हो जाता है । अतएव वचन का पालन करके प्रत्येक का विश्वास—सम्पादन करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

विवाह के समय तुमने अपनी—पत्नी को और तुम्हारी पत्नी ने तुमको क्या वचन दिया था ? तुमने आपस में कैसी प्रतिज्ञा ली थी ? इस बात का जरा विचार करो । पत्नी ने उस समय पतिव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा ली थी और पति ने पत्नीव्रत के पालन की । तुम विवाह के समय ऐसी प्रतिज्ञा तो लेते हो पर उसका बराबर पालन करते हो ? पत्नीव्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा लेने वाला पति अगर परस्त्री का सेवन करता है तो वह अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट होता है या नहीं ? ज्ञाती के सामने ग्रहण की हुई



प्रतिज्ञा को पति या पत्नी भंग करे तो कितना अनुचित है ? अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना प्रत्येक का कर्त्तव्य है ।

वसुदेव अपनी प्रतिज्ञा के पालन में दृढ़ रहे । वे यह विचारते थे कि सिर पर कितना ही सकट क्यों न आ पड़े, धर्मपालन में तो दृढ़ ही रहना चाहिए । धर्मपालन में दृढ़ रहने वाले लोगो की सेवा करने के लिए देव भी लालायित रहते हैं । कहा भी है -

देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो ।

अर्थात्—धर्म में दृढ़ रहने वाले धर्मात्माओ को देव भी नमस्कार करते हैं । इस कथन के अनुसार देवकी की सतान मारी नहीं गई । हरिणगमेपी देव ने उसकी सतान नाग गाथापति के घर पहुँचा दी और नाग गाथापति की मृत सतान लाकर वसुदेव को सौंप दी । इस प्रकार सत्य पर दृढ़ रहने के कारण वसुदेव को किसी प्रकार की हानि नहीं हुई ।

भाइयो ! तुम भी सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखो । सत्य और धर्म पर श्रद्धा रखने वालो की रक्षा हुई है, होती है और होगी । अगर तुम्हारे अन्तःकरण में धर्म पर श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती तो यहाँ आना भी निरर्थक है । अतएव निर्ग्रन्थप्रवचन पर श्रद्धा रखो । तुम और हम निर्ग्रन्थप्रवचन से बन्धे हुए हैं । आपके और मेरे बीच सम्बन्ध जोड़ने वाला निर्ग्रन्थप्रवचन ही है । अतएव उस पर श्रद्धा रखकर सत्य का पालन करने वाले और देवकी जैसी पतिव्रता के घर ही श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषो का जन्म होता है । ऐसे महापुरुष जन्म लेकर क्या करते हैं, इस विषय में गीता में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अर्थात्—जब धर्म का अपमान होता है और अधर्म का साम्राज्य फैलता है, तब महापुरुष का जन्म होता है। वह महापुरुष धर्म की रक्षा करता है। मनुस्मृति में कहा है—‘धर्मो रक्षति रक्षित’ अर्थात् जो व्यक्ति धर्म की रक्षा करता है, धर्म उस व्यक्ति की रक्षा करता है। अतः धर्म पर पूर्ण श्रद्धा रखकर उसका पालन करो और परमात्मा का स्मरण करने में मन को तल्लीन कर दो। इसी में स्व-पर का कल्याण है।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न से कि उपधि का त्याग करने से जीव को क्या लाभ होता है, यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपधि रखने में लाभ नहीं वरन् उपधि का त्याग करने में ही लाभ है। इसलिए शास्त्र में भी कहा गया है:—

उबसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे ।

मायामज्जवभावेणं लोहं सतोसन्नो जिणे ।

अर्थात्—उपशम-क्षमा द्वारा क्रोध का नाश करो, मृदुता से मान को जीतो, आर्जव से माया को जीतो और सतोप में लोभ को जीतो।

क्रोध आदि को आत्मा का शत्रु माना जाये तो ही उन्हें जीता या नष्ट किया जा सकता है। क्रोध तो साक्षात् शत्रु है ही, अहंकार भी आत्मा का शत्रु ही है। अतएव क्षमा के द्वारा क्रोध को और नम्रता के द्वारा अहंकार को जीत लेना चाहिए। जब आम के पेड़ में फल लगते हैं तो वह नम जाता है, मगर एरण्ड नहीं नमता। अब विचार

करो कि तुम आम जैसे बनना चाहते हो या एरण्ड सरीखे बनना चाहते हो ? आम सरीखा बनने के लिए तुम्हे नम्रता सीखना चाहिए । वास्तव में ससार में वही पुरुष यशस्वी बनता है, जिसमें अहंकार नहीं होता और नम्रता होती है । जिसमें अहंकार भरा है वह नष्टप्राय हो जाता है । अहंकारी व्यक्ति का अहंकार ही उसके नाश का कारण बन जाता है ।

रावण का नाश अहंकार के कारण ही हुआ था । वह अच्छी तरह जानता था कि सीता का हरण करके मैंने अच्छा काम नहीं किया । मगर उसे अभिमान था कि मैं लका का स्वामी हूँ, अब उसे वापिस कैसे लौटाऊँ ! मन्दोदरी ने भी रावण को बहुत समझाया था—

तासु नारि निज सचिव बुलाई,  
पहुँचावहु जो चहहु भलाई ।

अर्थात्—अगर तुम अपना और राज्य का भला चाहते हो तो आज ही अपने मन्त्री को बुलाकर सीता को वापस भेज दो । मन्दोदरी ने इस प्रकार रावण को समझाया । रावण भी यह समझ गया था कि सीता को वापस न करने से हानि ही होगी, मगर उसमें अहंकार था । वह सोचता था कि मैं जिस सीता को ले आया हूँ उसे वापस सौंप देना मेरी कायरता कहलाएगी । लोग मुझे कायर कहेंगे । इसी अहंकार के कारण वह राम के पास सीता न भेज सका । इस अहंकार का नतीजा यह हुआ कि रावण का नाश हो गया ।

रावण तो अपने बल और वैभव आदि के कारण अहंकार करता था, परन्तु तुम किस बिरते पर अहंकार कर

रहे हो ? अहंकार विनाश का मूल कारण है, ऐसा समझ कर अहंकार का त्याग करो और नम्रता धारण करो ।

आम को कोई पत्थर मारे या लकड़ी मारे, वह तो सब को मीठे फल देता है । आम किसी पर क्रोध नहीं करता और न ऐसा अभिमान हो करता है कि मैं सब को मीठे फल देता हूँ ! इसके विपरीत तुम सार-असार का विवेक कर सकने वाली बुद्धि-शक्ति के धनी हो फिर भी साधारण-सी बात में क्रुद्ध हो जाते हो ! और घन के मद में चूर होकर व्यर्थ ही अहंकार का प्रदर्शन करते हो ! जरा विचार करा, यह कितनी बुरी बात है । क्रोध-अहंकार वगैरह आत्मा के विकार हैं । इस विकाररूप उपधि का त्याग करने में ही लाभ है । भगवान् महावीर ने भी यही बतलाया है कि उपधि का त्याग करने से हानि नहीं वरन् लाभ ही होता है । उपधि का त्याग करने से आत्मा निःसक्लेश बनता है । आत्मा और परमात्मा में उपधि के कारण ही अन्तर है । उपधि का सर्वथा विनाश हो जाने पर आत्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहेगा ।

पानी तो सरोवर में भी होता है और एक पात्र में रखा हुआ पानी भी पानी ही है । पानी दोनों जगह है, मगर भिन्न-भिन्न स्थिति में होने के कारण उसमें भेद है । अगर पात्र का पानी सरोवर के पानी में मिला दिया जाये तो दोनों में क्या भेद रह जायेगा ? फिर तो दोनों पानी एकमेक हो जाएँगे । जहाँ तक पात्र की उपधि थी वही तक भेद था । पात्र की उपधि हटते ही किसी प्रकार का भेद नहीं रहा ।

- इस साधारण से मालूम होने वाले उदाहरण में भी बहुत सार छिपा है। इस उदाहरण से सगठन के साथ-एक-तापूर्वक रहने का उपदेश मिलता है। अगर समाज में ऊपर के उदाहरण का अनुकरण किया जाये तो बहुत सुधार हो सकता है। अगर कोई मनुष्य किसी दुर्गुण के कारण समाज से बहिष्कृत हुआ हो और फिर वह प्रायश्चित्त लेकर, दुर्गुण का त्याग करके फिर समाज में सम्मिलित होना चाहे तो उसे समाज में पूर्ववत् स्थान मिलना चाहिए। परन्तु आज समाज की स्थिति अस्तव्यस्त हो गई है और समाजव्यवस्था ठीक तरह नहीं चल रही है। समाजसेवकों को विचार करना चाहिए कि सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए समाज की व्यवस्था ठीक करने की सर्वप्रथम आवश्यकता है। समाज की व्यवस्था बराबर सुधर जाएगी तथा समाज में सब को समान स्थान मिलेगा तो समाज की दशा भी अवश्य सुधर जाएगी।

कहने का आशय यह है कि आत्मा और परमात्मा में कर्मरूपी उपधि के कारण ही भेद है। जो व्यक्ति कर्म की उपधि का त्याग कर देता है, वह परमात्मामय बन जाता है। इसीलिए परमात्मा के प्रति ऐसी प्रार्थना की गई है कि—

प्रभुजी मेरे अवगुण चित न धरो।

एक नदिया एक नार कहावत भैलो नीर भरो,  
मिलके दोऊ एक रूप भई तो सुरसरि नाम परो। प्रभुजी।

एक लोहा पूजा में राखत एक घर बधिक परो।

पारस तामे भेद ना राखत कचन करत खरो। प्रभुजी।

गटर का पानी गन्दा और खराब होता है और गंगा का पानी निर्मल तथा अच्छा होता है । सुना है, काशी नगरी की सब गटरें बहुत गन्दी हैं और उन सब का गन्दा पानी गंगा नदी में जाता है । गंगा का पानी पवित्र और गटर का अपवित्र माना जाता है अतएव अगर गंगा अपने पानी में गटर का पानी न आने दे तो क्या तुम गंगा को गंगा कहोगे ? गटर गन्दी होती है फिर भी गंगा उसे अपने में मिला लेती है और गटर को भी गंगा रूप बना लेती है । जो अपनी अपवित्रता दूर करके पवित्र बनना चाहता है, गंगा उसे अपने ही समान पवित्र बना लेती है ।

जब गंगा भी उपाधि का त्याग करके आये हुए गटर के पानी को अपने साथ मिला कर पवित्र बना देती है तो क्या परम पवित्र परमात्मा उपाधि का त्याग करके आये हुए प्राणियों को पवित्र नहीं बनाएगा ? परमात्मा तो प्रत्येक प्राणी को—चाहे वह छोटा हो या बड़ा, उच्च हो या नीच हो—पवित्र बनाता है । उपाधि का त्याग करके आत्मा अगर परमात्मा के शरण में जाये तो आत्मा परमात्मा बन जाता है । शास्त्रकार भी यही उपदेश देते हैं कि उपाधि का त्याग करो और विपत्ति को भी सम्पत्ति समझ कर आत्मोद्धार करो । आत्मोद्धार करने में ही कल्याण है । जो व्यक्ति आत्म-कल्याण करके परका कल्याण करता है वही व्यक्ति पूजनीय माना जाता है ।-

लोग शकर को मानते हैं । पर किस कारण ? इसी कारण कि शकर जगत् का कल्याण करने वाले माने गये हैं । 'शकर' की व्याख्या करते कहा गया है—'श—करोतीति

शकरः । ' अर्थात् जो जगत् के दुख दूर करके जगत्कल्याण करता है, वही शकर है । कहा जाता है कि समुद्र मथन करते-करते अन्य चीजों के साथ हलाहल विष भी निकला था । दूसरी चीजें तो दूसरे लोग ले गये पर हलाहल विष को कौन ले ? इस विष को लेने के लिए कोई तैयार नहीं था । तब विष्णु ने शकर से कहा—आप देवाधिदेव है, अतः एव जगत् की रक्षा के लिए विषपान करके कृतार्थ कीजिए । शकर भोले थे । जिसमें भोलापन होता है वही जगत् की रक्षा के लिए तैयार होता है । राम भी भोले थे, इसी कारण वे राज्य का त्याग करके वन में गये थे । ऐसे भोले ही परमात्मा के सन्निकट पहुँचते हैं । महादेव भोले थे, अतएव उन्होंने विषपान कर लिया ।

महादेव ने तो जगत् की रक्षा के लिए विषपान किया था, परन्तु आज लोग महादेव के नाम पर गाजा-भांग आदि नशैली और विषैली वस्तुओं का उपयोग करते हैं । जब मैंने समयधर्म स्वीकार नहीं किया था, बैराग्य अवस्था में ही था, तब एक बार मुझे पास के गाव में जाना पड़ा । मेरे पास एक आदमी था । उसने मुझसे पैसे मागे । मैंने उससे पूछा—पैसे किसलिए चाहिए ? उसने उत्तर दिया—मुझे दारु पीना है और इसीलिए पैसे की आवश्यकता है । मैं विरक्त अवस्था में था । मैंने उससे कहा—दारु पीने के लिए मैं पैसे नहीं दे सकता । तब वह कहने लगा—दारु पीने में हर्ज क्या है ? दारु तो महादेव ने बनाई है ।

इस प्रकार दारु आदि नशैली वस्तुओं का उपयोग करने में महादेव कारण बतलाये जाते हैं । व्यसनी लोग

महादेव को व्यसनपूर्ति का साधन बना लेते हैं, जब कि भक्त लोग उन्हें भक्ति का भगवान् मानते हैं । वास्तव में जगत् की रक्षा के अर्थ विषपान करने वाले शकर व्यसनी लोगों के व्यसनपूर्ति के साधन किस प्रकार हो सकते हैं ? शकर को तो जगत् का कल्याण करने वाले लोग ही प्यारे लगेंगे । महादेव ने विषपान करके विपत्ति को भी संपत्ति के रूप में ग्रहण किया था और जगत् की रक्षा की थी । शकर बनने का यही मार्ग है । इस मार्ग का अनुसरण करके महापुरुष महत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं । जो मनुष्य जगत्कल्याण के लिए स्वयं कष्ट सहन करता है और विपत्ति को भी सम्पत्ति मानता है, वही मनुष्य महादेव या परमात्मा का भक्त है ।

शास्त्र कहता है उपधि या उपाधि का त्याग करने से आत्मा सक्लेशहीन बनता है । शास्त्र की इस बात पर साधुओं को तो ध्यान देना ही चाहिए, मगर श्रावकों के लिए भी यह बात समान रूप से लागू पड़ती है । शास्त्रकारों ने साधुओं के लिए सोने-चाँदी की चीजों का त्याग करके केवल काष्ठ, तूम्बा या मिट्टी के पात्र रखने की आज्ञा दी है । तो फिर काष्ठ के पात्रों पर ममता रखने की या उन्हें गृहस्थों के घर ताले में बन्द रखने की इच्छा कितनी अनुचित है ! अतएव साधुओं के लिए तो उपधि का त्याग करना ही श्रेयस्कर है ।

प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार उपधि का त्याग करना आवश्यक है । राम या भगवान् महावीर की प्रणसा उपधि का त्याग करने के कारण ही की जाती है ।



अतएव तुम भी त्याग का आदर्श दृष्टि के समक्ष रखकर उपधि का त्याग करो और विपत्ति को सम्पत्ति समझो। विपत्ति के बाद न चढ़ आवे तो ऐसी अवस्था में ध्वराहट त्याग कर परमात्मा का स्मरण करो। इससे विपत्ति भी सम्पत्ति के रूप में परिणत हो जायेगी।

जादूगर धूल में से रुपया पैदा करके उपस्थित जनता को आश्चर्यचकित कर डालता है। यह हाथ की चालाकी है। अगर धूल से रुपया बन सकता होता तो जादूगर क्यों पैसे की भीख मांगता? वह भीख मांगता है, इसीसे स्पष्ट जान पड़ता है कि यह हाथ की चालाकी है। परन्तु परमात्मा के नामस्मरण के जादू से सचमुच ही विपत्ति, सम्पत्ति बन जाती है। किसी ने कहा है—

ताम्बे से सोना बने, वह रसाण मत भीख।

नर से नारायण बने, वही रसायन सीखें ॥

आजकल ताम्बे से सोना बनाने वाले अनेक ठग देखे-सुने जाते हैं। इन ठगों के चमत्कार से बहुतेरे पढ़े-लिखे लोग भी प्रभावित हो जाते हैं। सुना है, एक बड़ा जागीरदार भी एक ठग के चमत्कार के चक्कर में फँस गया था। ठग ने जागीरदार से कहा तुम्हारे घर में जितना सोना हो, वह सब मेरे पाम लाओ तो मैं उसका दुगुना बना दूँगा। इस प्रकार प्रलोभन में फँसाकर ठग जागीरदार को जंगल में ले गया। ठग ने वहाँ जागीरदार से कहा—अब तुम्हारे पास जो अच्छी से अच्छी घोड़ी हो, ले आओ। इस सोने के चारों ओर घोड़ी की प्रदक्षिणा कराना आवश्यक है। जागीरदार ने घोड़ी भगवाई। ठग घोड़ी पर सवार

## २५०-सम्यक्त्वपराक्रम (३)

होकर कुछ देर तो उसे घुमाता रहा, फिर मौका देखकर और सोना उठाकर ऐसा भागा कि जागीरदार और उसके आदमी आँखें फाड़कर देखते रह गए ।

इस प्रकार ताम्बे से सोना बनाने की ठगविद्या से अनेक लोग ठगे गये हैं । परंतु आत्मा को परमात्मा बनाने का रसायन इतना उत्तम है कि उसमें विपत्ति भी सम्पत्ति बन जाती है । यह रसायन अनेक महापुरुषों द्वारा अनुभूत है । इस अनुभूत रसायन के द्वारा ठगे जाने का अणुमात्र भी श्रद्धा नहीं । इस रसायन के सेवन में आत्मा, परमात्मा अथवा नर, नारायण बन जाता है । ताम्बे से सोना बनाना तो ठगविद्या है । परंतु आत्मा से परमात्मा प्रकटाना सच्ची सद्विद्या है । यही सद्विद्या मुक्ति का साधन है । इस साधन द्वारा आत्मा का कल्याण करो । इसी में मानव-जीवन की सिद्धि है ।

